ज्ञानपीठ-लोकोदय ग्रंथमाला हिंदी-ग्रन्थाङ्क---१३

वर्द्धमान

रचयिता

महाकवि अनूप
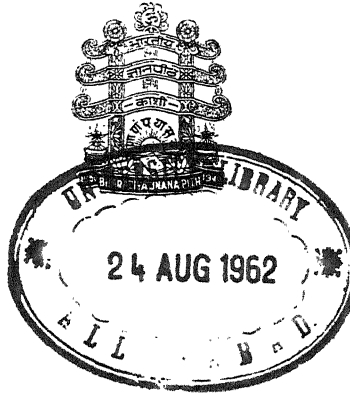
भारतीय ज्ञानपीठ काशी

ज्ञानपीठ लोकोदय ग्रन्थमाला सम्पादक
लक्ष्मीचन्द जैन एम० ए०, डालमियानगर

प्रकाशक—
अयोध्याप्रसाद गोयलीय
मंत्री, भारतीय ज्ञानपीठ
दुर्गाकुण्डरोड, बनारस ४

वीर-शासन जयन्ति
श्रावण कृष्ण १ वी० नि० सं० २४७७
जुलाई १९५१

प्रथम संस्करण ३०००
मूल्य छह रु०

मुद्रक—
जे० के० शर्मा
इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस
इलाहाबाद

विषयानुक्रमणिका

पहला सर्ग

दूसरा सर्ग

तीसरा सर्ग

चौथा सर्ग

पाँचवाँ सर्ग

छठा सर्ग

सातवाँ सर्ग

आठवाँ सर्ग

नवाँ सर्ग

दसवाँ सर्ग

ग्यारहवाँ सर्ग

बारहवाँ सर्ग

तेरहवाँ सर्ग

चौदहवाँ सर्ग

पंद्रहवाँ सर्ग

सोलहवाँ सर्ग

सत्रहवाँ सर्ग

शुद्धि-पत्र

(नोटः इसके अनुसार ग्रंथमें संशोधन करके इसको अलग कर दीजिए)

पृष्ठ संख्या	श्लोक-संख्या	पंक्ति-संख्या	शुद्ध
१३२	६१	१	स्पंदन ।
१६५	१०५	१	अविच्छिन्न ।
१७४	७	३	भेद ।
१९३	८३	१	त्रिसरेणु
२१७	६५	२	टिट्टिभ ।
२१८	७१	४	मदीय ।
२३३	१८	३	संभृत
२३९	४२	४	न मुक्ति है ।
२८६	४	४	बिखेरता ।
२९८	५३	१२	धर्म ।
२३४	७६	४	ज्ञान
४११	३३	३	गेह ।
४१७	५९	२	कुमार ।
४३०	१०९	३	सरोजिनी-पुष्प ।
५०२	३८	२	प्रहाराख ।
५८१	२२५	३	('है' काट दीजिए)

आमुख

'सिद्धार्थ' महाकाव्यके यशस्वी कलाकार श्री पं० अनूपशर्मा एम० ए०, एल० टी०, ने आज अपनी प्रतिभाकी चमत्कृत छैनीसे उन अद्वितीय जन-गण-मन अधिनायक भगवान् महावीरकी शान्त और सतेज प्रतिमा गढ़ी है जिनकी मूर्तिके अभावमें माँ भारतीका मन्दिर शताब्दियोंसे सूना-सूना लग रहा था। यह भारतीय ज्ञानपीठका सौभाग्य है कि उसे इस कलाकृतिको प्रकाशमें लाने और श्रुत-शारदाके मन्दिरमें प्रतिस्थापन करनेका गौरव मिल रहा है।

भगवान् महावीर जैनधर्मके उन्नायक अन्तिम (२४वें) तीर्थंकर थे। उनके ५ नाम थे, जो गुणाश्रित थे—वीर, अतिवीर, महावीर, सन्मति और वर्द्धमान। प्रस्तुत काव्यके शीर्षकके लिए 'वर्द्धमान' नाम ही उपयुक्त समझा गया, यद्यपि प्रारम्भमें कविने मूल पांडुलिपिका 'शीर्षक सिद्ध–शिला' दिया था और हमारे कई प्रकाशनोंमें इस ग्रन्थकी योजना इसी नामसे घोषित की गई थी। 'सिद्ध–शिला' भगवान् महावीरकी जीवन-साधनाका चरम लक्ष्य—मोक्ष—का प्रतीक है, और 'सिद्धार्थ' के साथ लेखककी कृतियोंका स्मृति-सरल युग्म बन जाता, पर कठिनाई यह थी कि 'सिद्ध-शिला' का शीर्षक साधारण पाठक को काव्य–विषयका सुबोध संकेत न दे पाता। दूसरी ओर, भगवान् महाधीर का 'वर्द्धमान' नाम इतना प्रचलित है कि भगवानकी विहार और उपदेश–भूमिका एक खंड बंगालमें इस नामसे ही (बर्दवान=वर्द्धमान) प्रसिद्ध है।

'वर्द्धमान' के सम्बन्धमें मुख्य विचारणीय बात यह है कि यह ग्रन्थ न तो इतिहास है न जीवनी। यदि आप भगवान् महावीरकी जीवन-सम्बन्धी समस्त घटनाओंका और तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक अथवा धार्मिक परिस्थितियों का क्रमवार इतिहास इस ग्रन्थमें खोजना चाहेंगे तो निराश होना पड़ेगा। यह तो एक महाकाव्य है, जिसमें कविने भगवान्के जीवन और व्यक्तित्वको आधार-

फलक बनाकर कल्पनाकी तूलिका चलाई है। यहाँ इतिहास तो केवल डोर-की तरह है जो कल्पनाकी पंतगको भावनाओंके आकाशमें खुली छूट देनेके लिए प्रयुक्त है। उड़ानका कौशल देखनेके लिए दर्शककी दृष्टि पतंग पर रहती है, डोर पर नहीं। हाँ, पतंगके खिलाड़ीको उतनी डोर अवश्य सँभालनी पड़ती है जितनी उड़ानके लिए आवश्यक है।

महाकाव्यके कविके लिए जो एक बन्धन आवश्यक है, वह है साहित्यिक-परम्परा और पद्धतिका। दण्डीने अपने ग्रन्थ काव्यादर्शमें महाकाव्यके निम्नलिखित लक्षण बतलाये हैं :—

> **"महाकाव्यकी कथावस्तु किसी प्राचीन इतिहास अथवा ऐतिहासिक वृत्तके आधारपर हो। नायक धीरोदात्त प्रकृतिका हो। महाकाव्य-में नगर, समुद्र, पर्वत, ऋतु, सूर्योदय, चन्द्रोदय, जलक्रीड़ा, विवाह, यात्रा, युद्ध आदिका वर्णन होना चाहिए। अति संक्षिप्त नहीं होना चाहिए। इसमें वीररस अथवा शृंगाररस प्रधान हो और दूसरे रस भी गौणरूपमें हों। सम्पूर्ण काव्य सर्गोंमें विभक्त होना चाहिए। प्रतिसर्गमें एक ही वृत्तके छन्द हों, किन्तु सर्गके अन्तमें अन्य-वृत्तके छन्द अवश्य हों" इत्यादि। (काव्यादर्श—१।१४।४९)**

महाकाव्यकी उपर्युक्त परम्पराका आधार संस्कृत साहित्य है। संस्कृतके लगभग सभी महाकाव्य इसी परिपाटीके आधार पर लिखे गये हैं अतः उनके लिए विषय और आख्यान भी ऐसे ही चुने गये हैं जिनमें महाकाव्यकी कथा वस्तु के प्रसारकी और उपयुक्त सामग्री प्रदान करनेकी क्षमता हो। भगवान राम, आनन्दकन्द कृष्ण और महात्मा बुद्धके जीवन-आख्यानोंको कवियोंने अनुश्रुति और प्रतिभाके बल पर इस प्रकार विकसित कर लिया कि ईस्वी पूर्व चौथी और पाँचवी शताब्दीमें 'रामायण' तथा 'महाभारत' और तीसरी शताब्दी, (ईस्वी उत्तर) में अश्वघोष द्वारा 'बुद्ध-चरित' नामक महाकाव्योंकी रचना हुई। क्या कारण है कि भगवान् महावीरके जीवनवृत्तके आधारपर शताब्दियों बाद तक भी कोई सांगोपाँग महाकाव्य न लिखा जा सका ? हिन्दी साहित्यमें भी

जहाँ सूर और तुलसीके समयसे लेकर आधुनिक युग तक 'रामचरितमानस' 'सूर-सागर' 'बुद्ध-चरित' 'प्रिय-प्रवास', 'साकेत', 'यशोधरा' और 'सिद्धार्थ' लिखे गये वहाँ 'वर्द्धमान' के लिए हिन्दी साहित्यको इतनी लम्बी प्रतीक्षा करनी पड़ी। इसका मुख्य कारण यह है कि भगवान् महावीरकी जीवनी जिस रूपमें जैनागमोंमें मिलती है उसमें ऐतिहासिक कथा भाग और मानवीय रागात्मक वृत्तियोंका घात-प्रतिघात गौण है और भगवानकी साधना—मोक्ष-प्राप्तिकी प्रयत्न-कथा ही मुख्य है। महाकाव्यके लिए जिस शृंगार अथवा वीर रसके परिपाक की आवश्यकता है उनका ऐतिहासिक कथा-सूत्र या तो मूलरूपसे है ही नहीं या किन्हीं अंशोंमें यदि घटित भी हुआ हो तो उपलब्ध नहीं।

उदाहरणके लिए, दिगम्बर मान्यतानुसार भगवान् महावीरने विवाह नहीं किया और कुमारावस्थामें ही वैराग्य ले लिया। ब्रह्मचर्यके इस अखंड तेजमें उत्कट बल और विजय तो है, पर शृंगारके रस-विलासकी भूमिका नहीं। महाकाव्यमें घटनाओं और भावनाओंके संघातके लिए जिस प्रतिद्वंदी और प्रतिनायककी आवश्यकता है वह भी नहीं। फिर जल-क्रीड़ा, उद्यान-विहार, विवाह, यात्रा, युद्ध और विजय-प्राप्तिके मानवीय चित्रणों द्वारा रसोंकी आयोजना-उत्पत्ति हो तो कैसे? जैनाचार्योंने प्राकृत और संस्कृतमें जब कुमारावस्थामें वैराग्य प्राप्त करने वाले तीर्थंकरों और महापुरुषोंकी जीवनी लिखी तो शृंगार-सर्जना के लिए उन्हें मुक्तिको स्त्री और नायिका तथा काम या मारको प्रतिद्वंदी बना कर शृंगार और वीर रसके उपादान जुटाने पड़े। इससे रीतिकी तो रक्षा हुई, शब्द और अर्थका चमत्कार भी उत्पन्न हुआ; पर पाठककी अनुभूतिको उकसा कर हृदयको भिगोने और गलाने वाला रस कदाचित् ही उत्पन्न हुआ।

इस कठिन पृष्ठभूमि पर महाकवि अनूपने 'वर्द्धमान' काव्य लिखा है। काव्यमें १७ सर्ग हैं और कुल मिलाकर १९९७ चतुष्पद (छंद) हैं। इस प्रकार ग्रन्थको महाकाव्यका पूरा विस्तार प्राप्त है। इसे हरिऔधजीके 'प्रियप्रवास' और कविकी अपनी कृति 'सिद्धार्थ' के अनुरूप संस्कृत-बहुल भाषा और संस्कृत वृत्तोंमें लिखा गया है। प्रायः समूचा काव्य वंशस्थ वृत्तमें है। केवल घटनामें

तोड़ देनेके लिए कहीं-कहीं मालिनी और द्रुतविलम्बित छन्दका उपयोग किया गया है। ग्रन्थका उपसंहार शिखरिणीसे किया गया है। विषय–क्रमसे सर्गोंका विभाजन मोटे रूपसे इस प्रकार है :—

वर्णन और प्रकृति-चित्र––प्रायः सब सर्गोंमें, किन्तु विशेष कर

पहला, तीसरा, सातवाँ, आठवाँ, दसवाँ, और ग्यारहवाँ सर्ग।

कथा-भाग–

चौथा, आठवाँ, नौवाँ, बारहवाँ, चौदहवाँ, पंद्रहवाँ, सोलहवाँ और सत्रहवाँ सर्ग।

प्रेम श्रृंगार और मनोरंजनात्मक–

दूसरा, पाँचवाँ और छठा सर्ग।

वैराग्य और उपदेशात्मक–

दसवाँ, ग्यारहवाँ, तेरहवाँ और सत्रहवाँ सर्ग।

महाकाव्योंके अनुरूप 'वर्द्धमान' में वर्णन-सौंदर्य, पद-लालित्य, अर्थ-गाम्भीर्य, रस-निर्झर और काव्य-कौशल सभी कुछ है। पद-पद पर रूपकों, उपमाओं और अन्य अलंकारोंकी छटा दर्शनीय है। इतना श्रम-साध्य कौशल होने पर भी संगति और प्रवाहकी रक्षाका प्रयत्न है। सारा काव्य भगवान् महावीरके पिता राजा सिद्धार्थकी राज-सभाकी तरह साक्षात् सरस्वतीका प्रतीक है :—

"सुवर्ण-वर्णा, ललिता, मनोहरा
सभा लसी यों पद-न्यास-शालिनी।
विरंचि-सिद्धार्थ-युता लखी गई
शरीरिणी ज्यों अपरा सरस्वती॥"

(पृष्ठ ४३, छंद ३३)

भगवान्की माता, रानी त्रिशलाके वर्णनमें कविने उपमाओंकी मनोहारिणी लड़ी पिरोई है। त्रिशला कल्प–वल्लरी हैं :—

"सुपुष्पिता दन्त-प्रभा-प्रभावसे
नृपालिका पल्लविता सुपाणिसे।

सुकेशिनी मेचक[1]-भृंग-यूथसे
[2]अनल्पथी शोभित कल्पवल्लरी ॥

(५०।५९)

इन्हीं त्रिशलाके वर्णनमें तरंगिनी (नदी) का रूपक देखिए :—

"सरोज-सा वक्त्र, सु-नेत्र मीन-से
सिवार-से केश, सुकंठ कंबु-सा।
उरोज ज्यों कोक, सुनाभि भौंर-सी
तरंगिता थी त्रिशला-तरंगिणी ॥

(५५।८१)

कविकी कल्पनाका कौशल देखिए कि त्रिशलाकी उँगलीको साक्षात् महा-भारतकी कथा बना दिया :—

"नलोपमा,[3] अक्षवती,[4] स-ऊर्म्मिका[5]
मनोहरा, सुन्दर-पर्व-[6]संकुला।
नरेन्द्र-जाया-कर-अंगुली लसी
कथा महाभारतके समान ही ॥

(६०।१०२)

त्रिशलाकी वाणीकी मिठास सुन कर कोयल और वीणा, दोनोंका मान खंडित हो गया। एक वन-वनमें रोती फिर रही है और दूसरी धराशायी हो गई :—

---

[1]नीले; [2]अत्यन्त;

महाभारतके पक्षमें	—	त्रिशलाके पक्षमें
[3]राजा नलकी चर्चा	—	वृन्त-नालके समान
[4]पासे वाली	—	चिह्न वाली
[5]तरंग (परिच्छेद)	—	रेखा-तरंग
[6]खंड	—	पोर।

"सुनी सुधा-मंडित-माधुरी-धुरी
जभी सुवाणी त्रिशला मुखाब्जसे
पिकी कुहू-रोदनमें रता हुई
प्रलंब भूमें परिवादिनी[१] हुई।"
(६।१०५)

राजा सिद्धार्थकी प्रशंसामें नीचे लिखी व्याजोक्ति देखिए। जो लोग सिद्धार्थको सब कुछ देने वाला (सर्वद) मानते थे, उन्हें यह देखकर निराश होना पड़ा कि सिद्धार्थने कभी भी अरिको पीठ और परनारिको वक्ष दान नहीं दिया। सिद्धार्थ सर्वज्ञाता भी नहीं थे क्योंकि उन्होंने यह कभी जाना ही नहीं कि नकार (नहीं) क्या होता है :—

"परन्तु जो सर्वद सर्वदा उन्हें
विचारते थे, वह यों निराश थे।
न पीठ पाई अरि-वृन्दने कभी
न वक्ष देखा पर-नारिने तथा।।
तथैव सर्वज्ञ न भूमिपाल थे
न जानते थे इतना कदापि वे।
नकार होती किस भांतिकी, अहो।।
अनाथको, आश्रितको अभागको।
(४४। ३६–३७)

अलंकार निदर्शनके लिए शब्दावृत्ति, अर्थावृत्ति और अनुप्रास आदिका यथोचित उपयोग किया गया है :—

"भयन्द हेमन्त जलेव भूपकी
सुदीर्घ हेमन्त निशेव आयु थी।

[१]वीणा

सुसह्य हेमन्त रवीव पार्थके
विनष्ट हेमन्त नलेव शत्रु थे ।।
(४५।४३)

"तड़ाग थे, स्वच्छ तड़ाग हों यथा
सरोज थे, फुल्ल सरोज हों यथा ।
शशांक था, मंजु शशांक हो यथा
प्रसन्नता पूर्ण शरत्स्वभाव था ।।
(१४०।४)

"अधौत वस्त्रा, अमिता अशंसिता
अशौच-देहा, अभगा, अमानिता ।
अदर्शनीया, अनलंकृता अ-भा
अभागिनी थी अबला अमानुषी ।।"
(चन्दनाका वर्णन—४८६।१८९)

निःसन्देह इस प्रकारके अलंकार संस्कृत साहित्यमें अन्यत्र भी पुनः-पुनः आये हैं और खोजनेसे अलंकार साम्य दिखाया जा सकता है पर इस प्रकार देखें तो कालिदास, भवभूति, भारवि और माघ; तथा गुणाढ्य, विमल, हरिषेण, जिनसेन और धनंजय आदिके बाद तो कोई उपमा और अलंकार अछूते नहीं बचते ? और बाणके विषयमें तो यहाँ तक कह दिया गया है कि—"बाणोच्छिष्टं जगत्सर्वम् "।

परम्परागत अलंकार कौशलके अतिरिक्त कविवर अनूपने 'वर्द्धमान' काव्य में अपनी भावमयी कल्पनासे सुषमाके अनेक नये सुमन उपजाये हैं। कहीं-कहीं शब्दोंकी कल्पनामें अर्थ और मृदुताका इतना विस्तार भरा है कि परिभाषाएँ और कल्पनाएँ काव्यमय हो गई हैं।

त्रिशला स्वप्न देख रही हैं। स्वप्नकी परिभाषा और स्वप्नका संसार किस तरह सजीव और सजग हो गया :—

"निशीथके बालक, स्वप्न नामके,
प्रबुद्ध होके त्रिशला-हृदब्जमें।
मिलिन्दसे गुंजन-शील हो गए"
(१०५।१७)

"उगा नहीं चन्द्र, समूढ़ प्रेम है
न चाँदनी, केवल प्रेम-भावना।
न ऋक्ष[1] हैं, उज्ज्वल प्रेम-पात्र हैं
अतः हुआ स्नेह-प्रचार विश्वमें।।"
(१४।६३१)

और यह आँसू हैं :—

"वियोगकी है यह मौन भारती
दृगम्बु-धारा कहते जिसे सभी।
असीम स्नेहाम्बुधिकी प्रकाशिनी
समा सकी जो न सशब्द वक्षमें"
(४२१।७२)

'वर्द्धमान' में शृंगार और प्रेमका वर्णन राज-दम्पत्ति सिद्धार्थ और त्रिशला के प्रौढ़ गार्हस्थिक स्नेह पर अवलम्बित है। शृंगार-रसकी सहज उत्पत्ति और विकासके जो उपादान हैं और नायक-नायिकाके युवकोचित विभ्रम-विलास-के चित्रणके लिए कविको जो चित्र-पट प्राप्त होना चाहिए वह यहाँ नहीं है। इस लिए इस शृंगारका सन्तुलन कठिन हो गया है। पर कविने इसे निभानेका प्रयत्न किया है। पाँचवें सर्गमें प्रेमकी गरिमा और महिमा सिद्धार्थ और त्रिशलाके स्नेह-संवादके रूपमें दिखाई गई है। दार्शनिकताके बीचमें जहाँ कहीं मानवीय प्राणोंकी भावधारा उमड़ती है वहाँ स्थल अधिक सरस और सजीव हो जाते हैं। —सिद्धार्थ कहते हैं :—

---

[1] तारे

"[1]वहित्र-सा जीवन मध्य-रात्रिके
पड़ा रहा चंद्र-विहीन सिंधुमें ।
मिला न दिग्सूचक-यंत्र सा जभी
प्रिये ! तुम्हारा कर, मैं दुखी रहा ।"

(१६०–८४)

और त्रिशलाकी भाव-प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है :—

"प्रकाशसे शून्य अपार व्योममें
उड़ी, बनी आश्रित-एक-पक्ष[2] में ।
मिला नहीं, नाथ ! द्वितीय पक्ष-सा
जभी तुम्हारा कर मैं दुखी रही"

(१६०।८५)

इस संवादका धरातल इतना ऊँचा उठाया गया है कि एक स्थान पर यह अत्यन्त आध्यात्मिक हो गया है :—

"प्रभो ! मुझे हो किस भांति चाहते ?"
"यथैव निःश्रेयस चाहते सुखी ।"
"प्रिये ! मुझे हो किस भांति चाहती ?"
"यथैव साध्वी पद पार्श्वनाथके ।।"

(१५८।७६)

इस स्थान पर पहुँच कर सहसा ध्यान आता है कि यहाँ पाँचवें सर्गमें जो राज-दम्पति इतने ऊँचे उठकर प्रेमवार्तालाप कर रहे हैं दूसरे सर्गमें भी तो यही दम्पति हैं जो भगवान्के जनक और जननी बनने वाले हैं । लगता है जैसे कवि-ने दूसरे सर्ग में इन्हें केवल राज-दम्पतिके रूपमें ही मान कर रानी त्रिशलाके नख-शिखका वर्णन किया है । यह यद्यपि मात्रामें कम है और काव्य परम्परा-

---

[1]नाव, [2]पंख ।

के अनुकूल है, किन्तु कहीं-कहीं इस लिए नहीं खपता कि त्रिशला काव्यकी नायिका न होकर भगवान्‌की माता हैं। सम्भवतया कविके सामने शृंगार चित्रण-के लिए बहुत ही सीमित फलक था। इतनेमें ही उसे सब कुछ कहना था और परम्पराको निभाना था। कविने फलककी संकीर्णताके दोषको रंगोंकी गहराई-मे ढँकना चाहा है और यहीं भक्त पाठकके मनमें विभ्रम और कहीं-कहीं जुगुप्सा उत्पन्न हो जाती है। ऐसे पाठकका विचार है कि उरोज, नितम्ब और जघन-स्थलीका एकसे अधिक बार उल्लेख न होता तो भी काम चल सकता था। इसके उत्तरमें यही कहा जायेगा कि काव्यमें जो वर्णन परम्परासे मान्य है और शृंगारके प्रसंगमें अशोभन नहीं उसे छोड़नेके लिए कवि बाध्य नहीं। दूसरी बात यह भी है कि त्रिशलाका नख-शिख वर्णन राजाकी प्रेयसीके रूपमें किया जा रहा है। सिद्धार्थका मन-भृङ्ग सौन्दर्य-वल्लरीके जिन सरस दलों और विकच-कुसुमोंके प्रति लुब्ध है, उनका रागात्मक वर्णन उन्हींके दृष्टि-कोणसे किया गया है। तीसरे यह कि दूसरे सर्गका पार्थिव शृंगार यदि पाँचवें सर्गमें अपार्थिव और आध्यात्मिक हो गया है तो यह कविकी सफल कल्पनाका प्रतीक है।

जैसा कि होना चाहिए, 'वर्द्धमान' काव्य प्रधानतः भक्ति और वैराग्यका काव्य है। महावीर कुमारावस्थासे ही दयार्द्रमन और चिन्तनशील हैं। आठ वर्षकी अवस्थामें ही वह अपने सखाओंको सम्बोधित करते हैं:—

"सखे ! विलोको वह दूर सामने
प्रचण्ड दावा जलता अरण्यमें।
चलो, वहाँके खग जीव जन्तुको
सहायता दें, यदि हो सके, अभी॥"
मनुष्य, पक्षी, कृमि, जीव, जन्तुकी
सदैव रक्षा करना स्वधर्म है।
अतः चलो काननमें विलोक लें
कि कौनसी व्याधि प्रवर्द्धमान है॥"

उसी आयुमें कुमार वर्द्धमान ऋजुबालिका नदीके तट पर पहुंचते:—

"नितान्त एकान्त-निवास-संस्पृही
कुमारको थी सरि मोद-दायिनी ।
कभी-कभी आ उसके समीप वे
विचारते जीवनका रहस्य थे ॥"

सोलह वर्षकी अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते उनकी वैराग्य-भावना और भी प्रबल हो गई और प्रकृतिके साहचर्य्यमे प्रभावित होकर वह सोचने लगे :—

"मनुष्यका जीवन है वसन्त-सा
हिमर्तु प्रारम्भ, निदाघ अन्तमें ।
जहाँ सदा भाव प्रसून फूलते
विचारके भी फलते प्रतान हैं ॥"
"लिया जभी जन्म; तुरन्त रो उठे
विलोक पृथ्वी हँसने लगे तथा।
मुहूर्त जागें, क्षण-एक सो, उठे,
सुदीर्घ सोये, तब जागना कहाँ ?"

तेरहवें सर्गमें वैराग्य-दायिनी बारह भावनाओंका विस्तारसे वर्णन है। केवलज्ञान प्राप्त होने पर भगवान्ने जो उपदेश दिये हैं, कविने उनमें आचार-की पवित्रता, गुणोंकी प्राप्ति और दोषोंके त्यागकी प्रधानता दिखाई है। प्रारम्भ-से अन्ततक कविका दृष्टिकोण यही रहा है कि 'वर्द्धमान' काव्य 'सर्वसाधारणके लिए पाठ्य' हो और इसके उपदेश जीवनोपयोगी हों। यही कारण है कि इस ग्रंथमें भगवान्के दिव्य जीवनकी तो झाँकी मिलती है किन्तु वर्द्धमान द्वारा प्रति-पादित वह दर्शन और तत्त्व-विवेचन जो विश्वके दार्शनिक इतिहासमें मौलिक और अद्वितीय है, अछूता रह गया है।

"जिनेन्द्र बोले वह धर्म-वाक्य जो
कि सर्वसाधारण बोधगम्य थे।

गृहस्थके साधु-समाजके सभी
बता चले धर्म तथैव कर्म भी।।"

(५६२–१४९)

वैशाली के प्रमुख गण-तन्त्र की परम्पराओंमें पले तथा सामान्य मानव-समाजके हित और उद्धारकी भावनाओंसे पूरित-हृदय भगवान्के उपदेश सर्वसाधारणके बोधगम्य होने ही चाहिए थे। उनकी शैली, वाणी-माधुर्य और भाषाकी यही विशेषता थी।

श्री अनूप शर्माने इस ग्रंथकी रचनामें भगवान्के जिस ऐतिहासिक जीवन वृत्तको आधार बनाया है, उसकी रूप-रेखा उन्होंने अपने वक्तव्यमें दी है। महावीरकी जीवनी जैनधर्मकी दो सम्प्रदायों—दिगम्बर और श्वेताम्बर—में भिन्न-भिन्न रूपसे मिलती है। जीवन–वृत्तकी जिन ऐतिहासिक मान्यताओंमें दोनों सम्प्रदायोंमें अन्तर है उनमें से मुख्य-मुख्य इस प्रकार हैं।

१. **माता**—दिगम्बर मान्यताके अनुसार भगवान् महावीरकी माता त्रिशला वैशालीके हैहय वंशीय, जैनधर्मानुयायी क्षत्रिय राजा चेटककी पुत्री थी। श्वेताम्बर मान्यतानुसार त्रिशला चेटककी बहिन थी।

२. **गर्भावतरण**—दिगम्बर मान्यतानुसार भगवान् महावीर आषाढ शुक्ला षष्ठीके दिन रानी त्रिशलाके गर्भमें अवतीर्ण हुए और उन्हींकी कुक्षिसे जन्म हुआ। श्वेताम्बर आगमोंकी मान्यता है कि भगवान् महावीर प्राणत स्वर्गसे च्युत हो कर ब्राह्मणकुंडपुरमें ऋषभदत्त नामक जैनधर्मानुयायी ब्राह्मण-नायककी पत्नी देवनन्दाके गर्भमें आषाढ़ शुक्ला षष्ठीको आए और ८३ दिन बाद सौधर्मेन्द्रकी इच्छानुसार हिरणैगमेष्ठा देव द्वारा ब्राह्मण भार्या देवनन्दाके गर्भसे निकाल कर क्षत्रिय-भार्या त्रिशलाकी कोखमें लाये गये। बदलेमें त्रिशलाकी गर्भ-गत पुत्रीको देवनन्दाके गर्भमें लाया गया।

३. **कुटुम्ब**—दिगम्बर मान्यता है कि भगवान् महावीर राजा सिद्धार्थके एकमात्र पुत्र थे। श्वेताम्बर मान्यता है कि राजा सिद्धार्थके दो पुत्र थे। भगवान् महावीरके बड़े भाईका नाम नन्दिवर्द्धन था और उनकी भाभीका नाम प्रजावती था।

४. **विवाह**—दिगम्बर मान्यतानुसार भगवान्‌का विवाह नहीं हुआ। श्वेताम्बर मान्यता है कि इनका विवाह समरवीर नामक सामन्तकी कन्या यशोदा-से हुआ। इतना ही नहीं, इनके एक पुत्री हुई जिसका नाम प्रियदर्शना था।

५. **दीक्षा**—दिगम्बर मतानुसार भगवान्‌ने ३० वर्षकी अवस्थामें दीक्षा ली जबकि उनके मात।पिता जीवित थे। श्वेताम्बर मान्यता है कि जब २८ वर्षकी अवस्थामें भगवान् महावीरके माता-पिताका देहान्त हो गया तो उन्होंने दीक्षा लेनी चाही। बड़े भाई नन्दिवर्द्धनके समझानेसे वह दो वर्षके लिए रुक गये और इन दो वर्षोंमें उन्होंने गृहस्थ होते हुए भी त्यागी जीवन बिताया।

६. **निर्ग्रन्थ**—दिगम्बर मान्यता है कि भगवान दीक्षाके समय नग्न दिगम्बर हो गए। श्वेताम्बर मत है कि भगवान सवस्त्र थे और उनके कन्धे पर देव-दूष्य था।

७. **उपदेश**—दिगम्बर मान्यतामें भगवानने केवलज्ञान प्राप्त होनेसे पहले उपदेश नहीं दिया और ६६दिन बाद प्रथम समवसरण उस समय हुआ जब उन्हें इन्द्रभूति गौतम गणधरके रूपमें प्राप्त हुआ।

श्वेताम्बर मतानुसार भगवानका उपदेश केवल ज्ञान प्राप्त करनेसे पहले भी हुआ किन्तु प्रथम समवसरणमें केवल देव ही उपस्थित थे मनुष्य नहीं।

८. **रात्रिगमन**—जबकि दिगम्बर मतानुसार भगवानका रात्रिगमन नहीं है, श्वेताम्बर मान्यता इसके विपरीत है।

उपर्युक्त कथानक-भिन्नतामें विशेष महत्वकी घटना भगवानका विवाह और कौटुम्बिक स्थिति है। 'वर्द्धमान' के लेखकने श्वेताम्बर और दिगम्बर मान्यताओंमें समन्वय उपस्थित करनेका प्रयत्न किया है। उनके बड़े भाईने जब विवाहका संदेश भिजवाया :—

"विवाह-प्रस्ताव प्रकाशते हुए,
सँदेश-संवाहक-वृन्दने कहा,

"प्रभो ! तुम्हारे प्रिय ज्येष्ठ भ्रातृको
अभीष्ट हैं कौतुक[1] आपका लखें"
(३४६–६)

भगवानने उत्तर दिया

"कहा किसी ज्योतिष-विज्ञने कभी
विवाह होगा मम तीस वर्षमें
तथा मिलेगी मुझको वधू कि जो
सुभाग्यसे ही मिलती मनुष्यको
(३४९–१८)

× ×

अखंड सौभाग्यवती कलत्रका
अवाप्त होना कुछ खेल है नहीं,
वही बली पा सकता उसे कि जो
खपे, मरे, और जिये अनेकधा।
सुना किसीसे वह दिव्य नायिका,
विराजती तेरह खंड धामपै।
अजस्र आरोहण रात्रि-वारका
सुमार्ग भी दीर्घ [2]त्रयोदशाब्द है ।।
न शीघ्रगामित्व, न मंदगामिता,
न यान साहाय्य, न दंड धारणा।
न पास पाथेय, न दास-मंडली
तथापि जाना अनिवार्य कार्य है ।।"
(४१६—५२से ५४ तक)

× ×

---

[1]विवाह, [2]तेरह गुणस्थान।

उसके बाद उनका अन्तिम निश्चय हुआ—

"अतः चलूँगा कल मैं अवश्य ही
मुझे महा-सिद्धि-विवाह-ध्येय है
प्रवृत्त होगी कल मार्ग मासकी
पवित्र शुक्ला दशमी मनोरमा"
(४१७–५८)

सोलहवे सर्गमें इस घटनाको |कवीद्र-कल्पनाने आगे इस प्रकार बढ़ाया :—

"हुआ उसी काल, अहो ! अनन्तमें
निदान ऐसा कि जिसे कवीन्द्र ही
निशान्तमें हैं सुनते कभी, यदा
समीर हो स्तम्भित, शान्त व्योम हो।
(५०१–३२)

× ×

कुबेर संचालित चार अश्वका
समीप ही स्यंदन एक आ गया।
इतस्ततः सैन्धव स्वीय टापसे
अ-धूलि धूलिध्वज थे बिखेरते।
(५०१–३४)

× ×

तुरन्त ही दिव्यरथी शतांगसे
हुआ महीपै अवतीर्ण सामने;
विनीत हो, और निबद्ध-पाणि हो
यतीन्द्रसे की इस भाँति प्रार्थना :—
"अवाप्त की है वह उच्च भूमिका,
प्रभो ! मिला सो वरदान आपको,"

× ×

"अतः चलो संप्रति दिव्य-लोकमें—
निसर्ग-अंतःपुरमें—जहाँ प्रभो !
समस्त-देवासुर-मौलि-लालिता
विराजिता है वह आदि-देवता ।
(५०२–४२)

× ×

मनुष्यके सुन्दर रंग-रूपमें
जिनेन्द्र-आत्मा अलकेश-संग ही
हुई समासन्न; तुरन्त व्योमको
विशाल धाराट उड़े विमान ले ।
(५०४–४५)

× ×

जहाँ न पानी-पवनानलादिका
प्रवेश होता महिका न व्योमका
नितान्त एकान्त-निवासमें कहीं
जिनेन्द्र थे, और अनन्त शक्ति थी ।
(५१२–७८)

× ×

पवित्र एकान्त ! त्वदीय अंकमें,
त्वदीय छाया-मय मंजु कुंजमें,
मुनीन्द्र, योगीन्द्र, किसे न अंतमें
सदैव दैवी-सहचारिणी मिली ।
(५१२–७९)

"खड़ा रहा स्यंदन एक याम ही
जिनेन्द्र लौटे सँग दिव्यशक्तिके

प्रकाशके अन्दरमें छिपे हुए
सुव्यक्त दोनों द्रुत एक हो गए"
(५१३–८०)

कविने इस प्रकार भगवानके विवाहका आध्यात्मिक रूप दिया है और श्वेताम्बर तथा दिगम्बर आम्नायकी मान्यताओंमें सामञ्जस्य बिठाया है।

इसी प्रकार कविने भगवानके दिगम्बरत्वके विषयमें भी समन्वय किया है। उन्होंने माना है कि दीक्षाके समय भगवान निर्ग्रन्थ–निर्वस्त्र हो गए थे, किन्तु देव-दूष्य समीप था :—

"अहो अलंकार विहाय रत्नके
अनूप रत्न-त्रय-भूषितांग हो
तजे हुए अंबर अंग-अंगसे
दिगम्बराकार विकार शून्य हो।
समीप ही जो पट देव-दूष्य है
नितान्त श्वेताम्बर-सा बना रहा
अग्रंथ, निर्द्वन्द्व महान संयमी,
बने हुए हों जिन-धर्मके ध्वजी।
(४३२–४३३ पृ० ११९–१२०)

'वर्द्धमान' के पाठक यदि ध्यानसे ग्रंथका अध्ययन करेंगे तो पाएँगे कि कवि-ने दिगम्बर और श्वेताम्बर आम्नायमें ही नहीं, जैन धर्म और ब्राह्मण धर्ममें भी सामञ्जस्य बिठानेका प्रयत्न किया है। कवि स्वयम् ब्राह्मण हैं। उन्होंने अपनी ब्राह्मणत्वकी मान्यताओंको भी इस काव्यमें लानेका प्रयत्न किया है। वास्तव-में भगवान महावीरके जीवनमें ही सच्चे ब्राह्मणत्वको आदरका स्थान प्राप्त है। दिगम्बर आम्नायानुसार इस बातका कम महत्व नहीं कि केवल-ज्ञान प्राप्त होने पर ६६ दिन तक भगवानका उपदेश न हो सका क्योंकि उनकी वाणीको हृदय-ग्राह्य बना कर जन-जनमें प्रचार करनेकी क्षमता रखने वाला व्यक्ति,

जिसे शास्त्रीय भाषामें 'गणधर' कहते हैं, प्राप्त न हो पाया और जब यह महाज्ञानी पुरूष प्राप्त हुआ तो वह अपने समयका प्रकाण्ड विद्वान इन्द्रभूति गौतम था जो जन्म और जातिसे ब्राह्मण था। भगवानके उपदेशसे प्रभावित होने वाले और उनके धर्ममें दीक्षित होने वाले प्रारंभिक व्यक्तियोंमें ब्राह्मणोंकी ही बहुलता थी।

यद्यपि भगवान महावीरकी साधना और उपदेशका एक प्रधान लक्ष्य वैदिक-यज्ञोंकी हिंसावृत्तिको रोकना, और वैदिक क्रियाकांडके अर्थहीन और स्वार्थपूर्ण बन्धनोंसे सर्व-सामान्यका उद्धार करना था, किन्तु वेदके जिन दार्शनिक अंशोंमें तत्कालीन विद्वानोंको पूर्वापर विरोध प्रतीत होता था, उस विरोधका निराकरण भी भगवान्ने जैन-दर्शनके मूल-सिद्धान्तोंके आधार पर किया। वेदोंके दार्शनिक भागमें जहाँ पूर्व तीर्थंकरों द्वारा प्रचारित श्रमण संस्कृतिकी विचारधारा ग्रहण की गई है, उसका निदर्शन उसी संस्कृतिके आधार पर किया जा सकता था।

ऊपर जिन इन्द्रभूति गणधरका उल्लेख किया है वह भगवानके प्रधान शिष्य उसी समय बने जब भगवानकी विवेचनासे उनका दार्शनिक संशय नष्ट हो गया। जैनागमोंमें इस तात्विक चर्चाका जो उल्लेख आया है उससे प्रतीत होता है कि इन्द्रभूति गौतमको आत्मा (पुरूष) के अस्तित्वमें शंका थी। उसने वेदमें पढ़ा था :—

"विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्ति"।

इन्द्रभूतिने इसका अर्थ समझा था :—

"विज्ञाघन अर्थात् चेतनापिंड, भूतपादर्थों अर्थात् जल, पृथ्वी, अग्नि आदि भूत-समुदायसे उत्पन्न होकर उसी भूतसमुदायमें विनष्ट हो जाता है। प्रेत्य अर्थात् परलोकको कोई संज्ञा नहीं—परलोक नामकी कोई वस्तु नहीं।

और इन्द्रभूतिने वेदमें यह भी पढ़ा था कि **"स वै अयमात्मा ज्ञानमयः"**—यह वही ज्ञानमय आत्मा है"। अतः उसे शंका थी कि विज्ञानघनवाली भूतिशक्तिको ही आत्मा माना जाए जो विनष्ट हो जाती है अथवा ज्ञानमय आत्माका अलग स्वतंत्र अस्तिव माना जाए जिसका प्रथकत्व ऋषिने 'स वै अयमात्मा

ज्ञानमयः' कह कर घोषित किया है। भगवानने इस शंकाका निवारण "विज्ञान-घन" वाली श्रुतिका निम्नप्रकार यथार्थ अर्थ समझाकर किया :—

विज्ञानघन, अर्थात् आत्मामें प्रतिक्षण उत्पन्न होनेवाली नवीन ज्ञानपर्यायोंका पिंड, भूतसमुदायसे उत्पन्न होता है अर्थात् संसारमें जीव-अजीव, जड़-चेतन जितने भी ज्ञेय पदार्थ हैं उनसे उत्पन्न होता है। और जब दूसरी ज्ञानपर्यापजा उदय होता है तो पहलीवाली ज्ञानपर्याय उसी ज्ञेयभुंतपिंडमें विलीन हो जाती है—और उस समय उस पहलीवाली ज्ञानपर्याय (=प्रेत्य)की कोई संज्ञा (उपयोगिता) नहीं रह जाती।

जैसा कि पहले कहा गया है, 'वर्द्धमान' काव्यमें इस प्रकारकी तात्विक चर्चाका उल्लेख नहीं है क्योंकि वह काव्यमें आ नहीं सकती थी और यदि आती तो काव्य की सरसताका क्षेत्र और भी अधिक संकुचित हो जाता। लेखकने जहाँ भगवान द्वारा वेद-विहित तत्वोंकी यथार्थ विवेचनाकी ओर संकेत किया है वहाँ कुछ बातें ऐसी भी कह दी हैं जो जैनदर्शनकी मौलिक मान्यताओंसे मेल नहीं खातीं, और जिनके विषयमें संभवतया कवि अपने मनमें सामञ्जस्य नहीं बिठा पाये हैं। उदाहरणार्थ :—"....**लोकनाथ की,**

बिना अनुज्ञा डसती न मृत्यु है। (३३०–६१)

× × ×

"चतुर्दिशा, ईश्वरसे विनिर्मिता;
विराजमाना यह सृष्टि धन्य है। (३६५–८३)

× × ×

"कृतज्ञ होना उस सूत्रधारका" (३६५–८४) आदि।

इसी प्रकार अवतारवाद और पराश्रयताके विचार भी जैन परंपरासे मेल नहीं खाते :—

"मनुष्य जो हैं पहचानते मुझे,
वही प्रशंसा करते स-प्रेम हैं

समस्त-संसार-हितार्थ मैं सदा
स्वजन्म लेता करता सुकर्म हूँ" (२९६–४६)

× × ×

स्वमृत्यु संध्या तक यों चले चलो
न दूर-यात्रा-श्रम हो, मुझे भजो। (२९७–४९)

एक स्थानपर कविको जैन आर्यकाओंकी वेशभूषाके सम्बन्धमें भ्रम हो गया मालूम होता है। प्रसंग मिलाकर देखिए :—

"नवार्जिका-सी त्रिशला प्रतीत थी" (९१–७२)

काव्यमें दो चार स्थलोंपर कविके हाथसे सर्वसम्मत इतिहासका सूत्र भी छूट गया है।

महारानी त्रिशला सो रही हैं। स्वप्न देखनेका क्षण आ गया। रात्रिका वह चतुर्थ याम है। पर, आजके-दिन-जैसी कल्पना की गई है कि तीनका घंटा बजनेवाला है और नीलाममें स्वप्नोंकी बोली छूटनेवाली है :—

"कुस्वप्न-दुस्स्वप्न समस्त विश्वके
सजे हुए हैं मन पण्य-वीथिमें
प्रभात घंटा अब तीनका बजा
किन्हें करेगी क्रय भूप-योषिते ! (१०६–२०)

'ह्वेल' मछली, अलक्षेन्द्र (Alexander) और स्थानकवासि साधुके उल्लेख भी इसी श्रेणीमें आते हैं :—

त्रिशलाको स्वप्नमें सागर दिखाई दे रहा है :—

"समुच्च थी उत्थित वीचि भित्ति-सी
अजस्र आलोड़ित ह्वेल कृत्तिसी (१०९–३३)

भगवान महावीरकी विचारधारा चल रही है :—

बने महाद्वीप भविष्य-भूतके
सुमध्यमें जीवन अन्तरीप-सा
सम्हाल ले जो पथ वर्तमानका
वही अलक्ष्येन्द्र-समान ख्यात हो (३०४–७६)

प्रकृति वर्णनके प्रसंगमें कहा गया है :—

"प्रसन्न है सम्प्रति अन्तरिक्ष भी
प्रपन्न ज्यों स्थानकवासि साधु हों (१२६–३९)

कालानुक्रमकी दृष्टिसे उक्त चारों उल्लेख भगवान महावीरके ऐतिहासिक युगसे मेल नहीं खाते क्योंकि उस समय तक ऐसी उपमाओं और कल्पनाओंका आधार-अस्तित्व हीन था। पर, यदि इतिहासकी बात छोड़ दी जाये तो जहाँ तक आजके पाठककी रसानुभूतिका सम्बन्ध है, उपर्युक्त चारों उपमायें सुन्दर और यथार्थ हैं। ऐतिहासिक सत्यके अतिरिक्त एक और सत्य है जिसे 'काव्य-गत-सत्य' कहते हैं। इस 'काव्य-गत-सत्य'का मूल्य रस-खोजी पाठकके लिए ऐतिहासिक सत्यसे भी अधिक है। हाँ, समालोचककी दृष्टि इतिहास-गत-सत्यपर भी समान रूपसे स्थिर है। वह तो टोकेगा ही।

इतिहासकी बात उठ गई है, इसलिए यह कह देना आवश्यक प्रतीत होता है कि भगवान महावीरके जीवन-इतिहासकी उपलब्ध सामग्री इतनी अल्प है और हमारी कई मान्यतायें सम्भवतया इतनी निराधार हैं कि विद्वानोंकी उदासीनतापर खेद और श्रद्धालुओंके विश्वासपर विस्मय होता है।

भगवान महावीरके जीवन-इतिहासके सम्बन्धमें दिगम्बर और श्वेताम्बर मान्यताओंमें कितना गहरा अन्तर है यह ऊपर दिखाया गया है। लगता है जैसे सम्प्रदायोंकी श्रद्धाने इतिहाससे चाकरी करवाई हो। भगवानका जीवन-वृत्त यदि स्पष्ट न हो तो समझमें आ सकता है, पर जब भगवानके जन्मस्थान और निर्वाण-स्थानके विषयमें भी भ्रान्ति या संशय देखा जाता है तो विशेष दुःख होता है। लक्ष-लक्ष श्रद्धालुओंने राजगृह और नालंदाके पास जिस अंगदेशीय लिछुवार (मुँगेर ज़िला) के कुंडलपुरको भगवानकी जन्मभूमि मानकर शताब्दियोंसे उपासनाके अक्षत और पुष्प चढ़ाये हैं, वह कुंडलपुर आज ऐतिहासिकोंकी दृष्टिमें उस यथार्थ जन्मभूमिसे भिन्न है जो विदेहमें वैशालीके नामसे जाना जाता है और मुज़फ़्फ़रपुर ज़िलेमें जिस स्थानको बसाढ़ कहते हैं। इसी प्रकार मगधके पटना ज़िलेमें राजगृहके पास जिस पावापुरीको भगवानकी निर्वाण भूमि मानकर शताब्दियोंसे श्रद्धालुओंने

असंख्य दीपक जलाकर अपनेको धन्य और कृतकृत्य माना है, उस पावापुरको निर्वाण-क्षेत्र माननेमें अनेक ऐतिहासिकोंको आपत्ति है। श्री पं० राहुल सांकृत्यायन मानते हैं कि जो पावा भगवान महावीरकी निर्वाण भूमि थी वह मल्लोंकी पावा, देवरिया ज़िलेमें पडरौनाके पास पपौर हो सकती है। श्री डा० राजवली पांडेय, पावाको गोरखपुर ज़िलेमें सठियाँव (फ़ाज़िल नगर) के आस-पास अवस्थित मानते हैं।

ऐसी अवस्थामें 'वर्द्धमान' काव्यमें वर्णित ऐतिहासिक-आधारपर अधिक तर्क-वितर्क करना उपादेय नहीं। महाकवि अनूप शर्माने इस महाकाव्यके लिए पराम्परागत मान्यताओंमेंसे उनको ही चुना है जो काव्यको प्रसार और सौंदर्य प्रदान करनेमें अथवा सामंजस्य स्थापित करनेमें सहायक समझी गईं। महासहिमामय भगवान् महावीरका साङ्गोपाङ्ग जीवनचरित्र भविष्यमें जब महाकाव्यके रूपमें पुनः लिखा जायेगा तो कविवर अनूपका यह महाप्रयास ही कवियोंकी कल्पनाको मौलिक स्फूर्ति प्रदान करेगा।

श्रद्धाका यह काव्य-प्रसून अपने असीम लालित्यके साथ सदा ही सरस्वतीके मन्दिरको सुरभित और शोभित बनायेगा। भारतीय ज्ञानपीठके संचालकोंका यह विश्वास उन्हें प्रफुल्लित कर रहा है।

कविके प्रति अपनी कृतज्ञता हम किन शब्दोंमें व्यक्त करें? उन्होंने हमारे हृदय-मन्दिरके लिए भगवानकी यह काव्यमय अक्षय सौम्य मूर्ति गढ़ी है जिसका ध्यान और मनन जीवनको उन्नत और पावन बनायेगा :—

"ललाटमें एक अनूप ज्योति है
प्रसन्नता आननमें विराजती
मनोज्ञता शोभित अंग-अंगमें
पवित्रता है पद-पद्म चूमती" (४९५–८)

लक्ष्मी चन्द्र जैन

सम्पादक
लोकोदय ग्रन्थमाला

डालमियानगर
१० जुलाई १९५१

लेखकका वक्तव्य

कोई पाँच-छः वर्ष पहलेकी बात है। जैन-मुनि श्री चौथमलजीके तत्वावधानमें श्वेतांबर-समाजका एक बहुत बड़ा समारोह भारत-प्रसिद्ध चित्तौड़-दुर्गपर हुआ था। उक्त अवसरपर एक अखिल भारतवर्षीय कवि-सम्मेलन भी स्वर्गीय श्री मनोहरलाल जैन (कानपुर) द्वारा आयोजित किया गया था। समारोह समाप्त हो जानेपर श्री चौथमल तथा मनोहरलालजीने इच्छा प्रकट की कि मैं भगवान् महावीरके जीवन-वृत्तको लेकर एक महाकाव्य लिखूँ। श्री मनोहरलाल मेरे शिष्य थे, तथा श्री चौथमलजीसे मेरा घनिष्ठ परिचय था। उनकी इच्छाओंके विरुद्ध आचरण करना मैंने अपना धर्म न समझा। एक और बात थी। इस घटनाके पहले मैं 'सिद्धार्थ' (महाकाव्य) लिख चुका था, जिसका स्वागत हिन्दीके विद्वानोंने इतना किया कि वह ग्रंथ विविध विश्व-विद्यालयोंके पाठ्यक्रममें रखा गया तथा समालोचकोंने भूरि-भूरि प्रशंसा की। इन सभी प्रोत्साहनोंके समक्ष मुझको झुकना पड़ा। फलतः आज वह संकल्प 'वर्द्धमान' होकर आपके सम्मुख उपस्थित है।

श्री चौथमलजीकी इच्छा थी कि भगवान्का चरित्र सर्व-साधारणके लिए पाठ्य हो, तथा श्री मनोहरलालजी, जो कानपुरमें श्वेतांबर तथा दिगंबर-सभाओंके समान-रूपसे अध्यक्ष थे, यह चाहते थे कि इन दोनों आम्नायोंके कटु विभेद दूर हों; वह अपने दृष्टि-कोणको समन्वित कराना चाहते थे। मैंने दोनों मतोंको युक्ति-युक्त समझ कर इस ग्रंथको लिखा है। दूसरे, मैं स्वयं सनातन-धर्मको माननेवाला हूँ, जिसका आधार ही समन्वय-वाद है। अतएव मैंने इस प्रपानकको श्लाघ्य एवं हृद्य समझा तथा ग्रंथ-निर्माणमें प्रवृत्त हो गया। जब दो-तीन वर्षके अनन्तर पुस्तक समाप्त हुई तो देखा कि उसको सुनकर अधिक प्रसन्न होनेवाले दोनों सज्जन स्वर्ग सिधार गये। मेरे सम्मुख बहुत बड़ा प्रत्यूह

उपस्थित हो गया। ग्रंथ तो छपता ही, क्योंकि जैन-समाज समृद्ध एवं उदार है, परन्तु मेरे हृदयकी खिन्नता ज्योंकी त्यों आज भी बनी है। इस बीचमें मैंने ग्रंथकी पाण्डु-लिपि बनाकर अपने प्रकाशक श्री नाथूराम 'प्रेमी', अध्यक्ष, हिन्दी-ग्रथ-रत्नाकर, (बंबई) के पास भेजी। उन्होंने उसको प्रकाशनार्थ मंत्री महोदय, ज्ञान-पीठ, काशीको प्रेषित की, क्योंकि वृद्धता तथा अन्य कौटुंबिक दुःखके कारण वह कुछ असमर्थ-से हो गये हैं। श्री शान्तिप्रसादजीने उनके प्रस्तावको स्वीकृत कर लिया, तथा श्री लक्ष्मीचन्द्रजी, एम० ए०। और श्री अयोध्याप्रसादजी गोयलीयकी देख-रेख में इसका प्रकाशन संभव हो सका। मैं इन तीनों सज्जनोंको हृदयसे धन्यवाद देता हूँ। ——इति शम्

धामपुर,
वसन्त पंचमी,
वि० सं० २००७

—"अनूप"

प्रस्तावना

भगवान् महावीर

[जीवन-वृत्त]

१. तत्कालीन परिस्थिति—

विक्रमीय संवत्से कोई ६०० वर्ष पहले हमारे देशकी धार्मिक, सामाजिक, एवं राजनीतिक अवस्था कुछ और ही थी। देशमें वैदिक धर्म, जो उस समय श्रौत-धर्मके नामसे प्रसिद्ध था, प्रायः सर्वत्र प्रचलित था। उपनिषदोंका अध्यात्म-वाद तथा कपिल मुनि द्वारा निर्दशित ताप-त्रय-निवृत्तिके सिद्धान्त देशके कोने-कोनेमें फैले हुए थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य ही द्विज शब्दका प्रयोग कर सकते थे। अंत्यज जातियाँ यज्ञ-क्रियाओंकी अधिकारिणी नहीं समझी जाती थीं। यह वैदिक क्रिया-कांडका युग था। इस युगका उस समयके प्रचलित जैन-धर्मपर बहुत प्रभाव पड़ा। तेईसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथको दिवंगत हुए अभी तीन शताब्दियाँ भी नहीं हुयी थीं कि उनके संघकी अवस्था शोचनीय हो चली। समय यद्यपि धर्म-भावनाका था—परन्तु धार्मिक भावनाएँ, श्रद्धा एवं सदनुष्ठानके स्थानपर अंध-विश्वास, हिंसा तथा प्रचलित रूढ़ियोंको पुष्ट कर रही थीं।

अंग, मगध, वत्स, अवन्ती, सिंधु आदि अनेक भू-भाग उस समय राज-सत्तात्मक थे; फिर भी वहाँकी प्रजा सुखी और सम्पन्न थी; परन्तु, काशी, कोसल, विदेह आदि अनेक प्रान्त प्रजा-सत्तात्मक भी थे। इन प्रदेशोंमें यद्यपि नाम-मात्रके राजा होते थे, तथापि वहाँकी राज्य-व्यवस्था प्रत्येक जातिके नायकके हाथमें रहती थी, जिसको 'गणराज' कहते थे। उस समय विदेह देशकी राजधानी वैशाली थी, जो अपनी समृद्धिके लिए दूर-दूर तक प्रसिद्ध थी। मिथिलाकी चिर-

संचित समृद्धि उस समय वैशालीमें केन्द्रीभूत हो रही थी। वहाँके निवासी, वृजिक और विदेह, यदि देवता थे तो वैशाली एक अमरावती थी। हैहय-वंशी जैन-राजा चेटकके समयमें वैशाली सुख और समृद्धिकी चरम सीमापर पहुँच चुकी थी। वैशालीके पश्चिम परिसरमें, गंडकी नदीके तटपर, दो उपनगर—ब्राह्मण-कुंड और क्षत्रिय-कुंड—अपनी अतुल समृद्धिके कारण अत्यन्त प्रसिद्ध थे। ब्राह्मण-कुंडपुरके नायक ऋषभदत्त थे, उनकी गृहिणीका नाम देवनंदा था। क्षत्रिय-कुंड पुरके नायकका शुभ नाम सिद्धार्थ था जिनकी रानी त्रिशला वैशालीके महाराज चेटककी भगिनी थीं।

२. च्यवन और जन्म—

भगवान् महावीर प्राणत नामक कल्पसे च्युत होकर, विक्रमीय संवत्से ५५३ वर्ष पूर्व, आषाढ़ शुक्ला षष्ठीकी मध्य रात्रिके समय, कहते हैं[1] ब्राह्मण-कुंडपुरमें देवनंदाकी कुक्षिमें अवतीर्ण हुए। क्षण-भरके लिए सारा जगत दिव्य प्रकाशमें चमक उठा और पृथ्वी हर्षोत्फुल्ल हो गयी। गर्भ-स्थापनाके ८३वें दिन, मध्य रात्रिके समय, सौधर्मेन्द्रकी आज्ञासे हरिणैगमेषी नामक देवने देवनंदाकी कुक्षिसे भगवान्को निकालकर त्रिशलाके उदरमें प्रविष्ट कर दिया, क्योंकि तीर्थंकरोंका जन्म ब्राह्मण-कुलमें एक अनहोनी बात थी। यह गर्भ-परिवर्तन आश्विन वदि त्रयोदशीको हुआ। उस समय त्रिशला देवीने भी वही १४ स्वप्न देखे जो गर्भ-स्थापनाके पूर्व देवनन्दाको दिखायी पड़े थे। हस्ती, वृषभ, सिंह, लक्ष्मी, पुष्प-माला, चंद्र, सूर्य, ध्वजा, कलश, पद्म, सरोवर, क्षीर-समुद्र, देव-विमान, रत्न-राशि और निर्धूम अग्नि—यह १४ पदार्थ स्वप्नमें दृष्टि-गोचर हुए। इन स्वप्नोंके दर्शनका फल स्वप्न-पाठियोंने यह बतलाया कि यथा-समय त्रिशला देवीके गर्भसे किसी महान चक्रवर्ती अथवा तीर्थंकरको जन्म लेना चाहिए। दिगम्बर परम्पराके अनुसार त्रिशला देवीको ही १६ स्वप्न हुए तथा भगवान्का गर्भागमन भी उन्हींकी कुक्षिमें हुआ।

---

[1]श्वेताम्बर परम्परा।

जबसे भगवान् महावीर महारानी त्रिशलाके गर्भमें अवतीर्ण हुए, तभीसे उनके पिता—सिद्धार्थकी राजसत्ता बढ़ने लगी, उनका भाण्डागार धन-धान्यसे परिपूर्ण हो गया। छः मास पहलेसे ही उनके भवनपर रत्नोंकी वर्षा होने लगी। विक्रमीय संवत्से कोई ५४२ वर्ष पूर्व, चैत्र सुदि १३की मध्य रात्रिमें भगवान्का जन्म हुआ। उनके प्रभावसे क्षत्रिय-कुंडपुर ही नहीं, सारा संसार लोकोत्तर प्रकाशसे पूर्ण हो गया, तथा केवल सिद्धार्थ ही नहीं, प्राणि-मात्रने अनिर्वचनीय आनंदका अनुभव किया। जन्मके समय स्वर्गमें इन्द्रासन कंपित हो उठा एवं देव-गण तथा देव-कुमारियाँ जन्मोत्सवमें भाग लेकर अपनेको धन्य मानने लगीं। जन्मके १२वें दिन नामकरण-संस्कार सम्पन्न हुआ। भगवान्के जेष्ठ भ्राता[1] का नाम युद्धवीर (अथवा, नन्दि-वर्द्धन) था; अतः उनका नाम महावीर (अथवा, वर्द्धमान) रखा गया।

३. बाल्यावस्था—

कुमार महावीरकी बाल्यावस्था राजकुमारोचित वैभवसे सम्पन्न थी। माता-पिता अपने कनिष्ठ पुत्रको अधिक भाग्यशाली समझते थे। धातृयाँ, भृत्य, तथा बाल-मित्र आदि सभी सुख-साधन उनके लिए प्रस्तुत किये गये थे। भगवान् बाल्यावस्थासे ही विवेक, शिष्टता, गंभीरता आदि गुणोंसे अलंकृत थे। वह अपने असाधारण गुणोंसे बड़े-बड़े ज्ञानियोंको भी चकित कर देते थे। मति, श्रुति, अवधि आदिक अलौकिक ज्ञान उनके बाल-हृदयको आलोकित करते थे। यद्यपि राजकुमारकी बाल्यावस्थामें अनेक ऐसी घटनाएँ हुयीं जो वास्तवमें चमत्कार-पूर्ण कही जा सकती हैं। उदाहरणार्थ एक घटना, आमलकी क्रीड़ा, उल्लेखनीय है :—

एकबार जब कुमार महावीर आमलकी नामक खेल खेल रहे थे, तब इन्द्र-द्वारा प्रेरित एक देव उनके साहस तथा सामर्थ्यकी परीक्षा लेने आया। वह सर्प बनकर एक वृक्षके नीचे बैठ गया और फुंकार करने लगा। दूसरे सभी बालक

---

[1] श्वेताम्बर मान्यता।

भयभीत हो गये, परन्तु कुमारने उसका दमन कर दिया। तदनन्तर वह देव एक बालक बनकर अन्य बालकोंके साथ खेलमें मिल गया तथा कुमारको अपनी पीठपर बिठाकर दौड़ने लगा। दौड़ते-दौड़ते उसने अपना शरीर बढ़ाना प्रारंभ कर दिया। यह देखकर कुमारने उसकी पीठपर एक मुष्टिक प्रहार किया। तब वह देव व्याकुल होकर पुनः अपने पूर्व-रूपमें आ गया। वह प्रकट होकर निवेदन करने लगा, "भगवन्, मैं इन्द्र-द्वारा प्रेरित एक देव हूँ। मैं आपकी परीक्षा लेने भेजा गया था और अब प्रशंसक बनकर जा रहा हूँ। आप सत्यमेव महावीर हैं।" इस कथाका निर्देश-मात्र इस ग्रंथमें किया गया है।

४. विवाह-प्रसंग—

दिगम्बर-संप्रदाय भगवान् महावीरको अविवाहित मानता है, परन्तु श्वेताम्बर ग्रंथकार उनको विवाहित मानते हैं। श्री भगवान्के मोक्षगामी होनेके बहुत वर्षके अनन्तर विदेह देशमें घोर अकाल पड़ा था। फलतः उनके अनुयायी, जो जीवित बच सके, दक्षिणकी ओर चले गये। अनुयायियोंके तितर-बितर हो जानेके कारण बहुत-सी धार्मिक सामग्री नष्ट-भ्रष्ट हो गयी तथा उनके जीवन-वृतान्तका बहुत-कुछ भाग लुप्त हो गया। अतएव, ऐतिहासिक आधारपर उनकी जीवनीका लिखना असंभव हो गया। कहा जाता है कि उनकी पत्नीका नाम यशोदा तथा कन्याका प्रियदर्शना था। कुछ हो, विवाह होने तथा न होनेसे उनकी वैयक्तिक महत्तापर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। यह ग्रंथ साम्प्रदायिक दृष्टि-कोणसे नहीं लिखा गया है, अतः लेखकका क्या मत है, यह जाना नहीं जा सकता। यों तो लेखकने मुक्ति-दाराका पति मानकर भगवान्की पूजा-प्रशंसा की है, परन्तु उसने तो एक काव्य लिखा है न कि उनका ऐतिहासिक जीवन-वृत्त जो सर्वथा अप्राप्य एवं अपूर्ण है।

५. अभिनिष्क्रमण—

भगवान्को २८ वर्षकी आयु तक पहुँचते-पहुँचते उनके माता-पिताका देहान्त हो चुका था। अब उनको संसारसे विराग हो गया था परन्तु परिजनोंके अनुनय-विनय करनेपर दो वर्षके लिए उन्होंने गृह-त्यागका निश्चय स्थगित कर

दिया और अपना संयमित जीवन पूर्व-वत् बिताते रहे। कोई ३० वर्षकी अवस्थामें उन्होंने अपना ध्यान दीन-दुखियोंके उद्धारकी ओर आकृष्ट किया और प्रति-दिन दान देते-देते अपनी सारी संपत्ति उनको दे डाली। धन-धान्य, भूमि-परि-वार आदिसे अपना चित्त हटाकर, राज्य-वैभवको पूर्ण परित्याग कर, मार्गशीर्ष शुक्ला दशमीके दिन चौथे पहर चंद्र-प्रभा नामक पालकीमें सवार होकर, वह राज-भवनसे निकल पड़े। उस समय राज-कुटुम्ब, राज्याधिकारी, सेना आदिके अतिरिक्त सैकड़ों आ-बाल-वृद्ध नागरिकोंने उनका अनुगमन किया। नगरके बाहर, ईशान दिशाकी ओर, ज्ञात-खंड नामक उद्यानमें उनके दीक्षा-महोत्सवकी शोभा-यात्रा एक अशोक वृक्षके नीचे पहुँची। वहींपर भगवान्‌ने वस्त्राभूषण परित्याग कर, पंच-मुष्टिक केश-लोंचके अनन्तर, अपने भावी जीवनका दिग्दर्शन करानेवाली यह प्रतिज्ञा की :—

"मैं सम-भावको स्वीकार करता हूँ और सर्व-सावद्य-योगका परित्याग करता हूँ। आजसे यावज्जीवन, कायिक, वाचिक तथा मानसिक सावद्य-योग-मय आचरण न तो स्वयं करूँगा और न करनेवालेका अनुमोदन करूँगा।" उक्त प्रतिज्ञा करते ही उनको "मनः पर्य्यय" नामक ज्ञान प्राप्त हुआ।

६. तपस्वी जीवन—

दीक्षा लेकर भगवान् प्रव्रज्या कर गये। साढ़े बारह वर्ष तक उन्होंने कठोर तपस्या की। तपस्वी-जीवनमें उनको नाना प्रकारके दुःख, घोर आपत्तियों तथा अति कठोर विपदाओंका सामना करना पड़ा। सर्प, अग्नि, जल आदिके भयोंको धैर्य्य-पूर्वक सहन करना पड़ा। राज-दंडसे भी वे न बच सके। चोर अथवा गुप्त-चर समझकर राज-कर्मचारियोंने उनको नाना प्रकारके दंड दिये; परन्तु भगवान् उन सबको साहस और धैर्य्यके साथ सहते रहे। न तो वह किसी अप्रीति-कर स्थानमें ठहरते थे और न भिक्षाके लिए किसी गृहस्थसे याचना करते थे। वह नित्य ध्यानमें लीन, मौन-व्रत पालन करते हुए, दिनमें केवल एक बार हाथमें लेकर भोजन करके अपने दिन बिताते थे। उन्हीं दिनों उनको गोशालक नामका एक साधु-वेषी व्यक्ति मिला, जो बिना उनकी इच्छाके साथ-साथ हो लिया।

परन्तु वह धूर्त निकला और, अंतमें, कुछ दिन बाद भाग गया।

इस प्रकार भगवान् तपश्चर्य्यासे अपने पूर्व-कृत कर्मोंका क्षय करने लगे। विषम उपसर्ग तथा घोर परीषहोंको सहते हुए तथा विविध ध्यान-तप आदिका निरंतर अभ्यास करते हुए दृढ़-प्रतिज्ञ वीर भगवान्‌ने साढ़े बारह वर्षसे कुछ अधिक समय तक कठिन तप किया तथा क्रोध, मान, माया आदि कषायोंके ह्रास हो जानेसे उनमें क्षमा, मृदुता, आर्जव, संतोष, प्रभृति आत्मिक गुणोंका विकास हुआ। तब उनका जीवन लोकोत्तर एवं निर्मल हो गया। इस १२-१३ वर्षके दीर्घ-कालमें भगवान्‌ने केवल ३४९ दिन ही पारणा की तथा सभी उपवास निर्जल ही रखे।

एक दिन जंभिय (जृम्भिक) नामक गाँवके समीप, ऋजुबालिका नदीके उत्तर तटपर देवालयके समीप ही शाल-वृक्षके नीचे भगवान् ध्यानावस्थित हो गये। कामदेव द्वारा परीक्षा लिये जानेपर, उत्तीर्ण होकर, वह यहाँपर पधारे थे। शीघ्र ही शुक्ल ध्यानके दो सोपान पार कर, उन्होंने चार घातिक कर्मोंका क्षय किया। उसी समय (वैशाख शुक्ला दशमीके चौथे पहर) उन्होंने केवल ज्ञान प्राप्त किया। अब भगवान् सर्वज्ञ, सर्वदर्शी हो गये। संपूर्ण लोकालोकान्तर्गत, भूत-भविष्यत्, सूक्ष्म-व्यवहित, मूर्तामूर्त पदार्थ उनके ज्ञानमें अलोकित होने लगे।

७. तीर्थंकर अवस्था——

उस समय पावा (मध्यमा) नगरीमें एक बृहत् यज्ञ चल रहा था। सोमिलाचार्य्य नामक एक विद्वान ब्राह्मण उस सत्रके यजमान थे। उसमें देश-देशान्तरके बड़े-बड़े विद्वान ब्राह्मण आमंत्रित किये गये थे। केवल-ज्ञान-प्राप्त महावीरने सोचा कि यह अवसर अपूर्व लाभका कारण होगा; यज्ञमें आमंत्रित विद्वान ब्राह्मण प्रतिबोध पावेंगे और जैन-धर्मके आधार-स्तंभ बनेंगे।

अतः भगवान्, वहाँसे १२ योजन मार्ग रातभरमें पार कर, पावा नामक नगरीमें पहुँचे। दूसरे दिन एक महती सभामें लोक-अलोक, जीव-अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव-संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष आदिका अस्तित्व सिद्ध किया।

नरक क्या है, नरकमें दुःख क्या है, जीव नरकमें क्यों जाते हैं; तिर्यंच गतिमें जीवोंको किस प्रकार शारीरिक एवं मानसिक कष्ट सहन करने पड़ते हैं, इत्यादि प्रश्नोंका विवेचन किया। देव-गतिमें पुण्य-फलको भोगकर अविरत जीव किस प्रकार पुनः संसारकी नाना योनियोंमें भ्रमण करते हैं, इसका भी रहस्य उन्होंने उद्घाटित किया। अंतमें भगवानने, मनुष्य-योनिको अधिक महत्त्व-पूर्ण तथा दुर्लभ बताते हुए, उसको सफल बनानेके लिए पाँच महाव्रत, पाँच अणुव्रत, सात शील तथा सम्यकत्व-धर्मको समझाया। फलतः उस यज्ञमें आमंत्रित ११ प्रधान ब्राह्मणोंने भगवान्से दीक्षा ग्रहण की। उन ११ वैदिक ब्राह्मणोंको वेद-विषयक शंकाएँ थीं। भगवान्ने तात्त्विक दृष्टिसे विवेचना करके उनका समाधान किया। अतः सभी ब्राह्मणोंको विश्वास हो गया कि भगवान्का कथन ही यथार्थ 'वेद' है। कहा जाता है, इसके अनंतर ४४११ ब्राह्मणोंने निर्ग्रन्थ प्रवचन अंगीकार किया तथा भगवान्के श्रामण्य-धर्मको स्वीकार किया।

तदनन्तर कोई तीस वर्ष तक भगवान्ने, विहार तथा उसके निकटवर्ती प्रदेशोंमें घूम-घूमकर, जैन-धर्मका प्रचार किया। उन्होंने समय-समयपर अनेक प्रसिद्ध विद्वानों तथा राजाओंको दीक्षा दी। इस दीर्घ-कालीन धर्म-प्रचारका विवरण देनेके लिए एक अलग ही ग्रंथ चाहिए। वह विवरण धार्मिक होते हुए भी काव्यके लिए उपयुक्त विषय नहीं है। अपने जीवनके अंतिम समयमें भगवान् पुनः पावामें पधारे। यहीं उन्होंने अपने अंतिम उपदेश भी दिये। उनके अंतिम उपदेशोंकी अखंड धारा कार्तिक अमावस्याकी पिछली रात तक चलती रही। ब्रह्ममुहूर्त होते ही वे इस असार संसारको वास्तविक धर्मका सार देकर विक्रमीय संवत् पूर्व ४७०में सिद्धपद प्राप्त कर गये।

वर्द्धमान

पहला सर्ग

[वंशस्थ]

(१)

अनूप भू भारतवर्ष धन्य है,
धरित्रि कोई इस-सी न अन्य है
इसी मही-मध्य अनादि-काल से
समस्त तीर्थंकर[1] जन्म ले रहे।

(२)

प्रसिद्ध निःश्रेयस[2]-प्राप्ति के लिए
यही महापावन पुण्य देश है।
यहीं सदा कर्म-विनाश-कार्य के
लिए तपस्वी सुर भी पधारते।

(३)

हिमाद्रि-विन्ध्याचल-मध्य भूमि में
हुआ समुत्पन्न न जो न धन्य सो।
सुना गया देश पुराण काल से
प्रसिद्धि-संवेष्टित[3] धर्म-क्षेत्र है।

---

[1]जीवन-मुक्त अथवा ईश्वर, भवसागर-तारक। [2]मुक्ति। [3]युक्त अथवा लिपटा हुआ।

(४)

शरण्य[१] धर्मार्थ-विमोक्ष-कामका,
अरण्य है जो तप-दान-मान का,
विशुद्ध जो सुन्दर स्वर्ग-लोक से
वरेण्य है लोक यही त्रिलोक में।

(५)

द्युलोक[२]-संख्यात[३] समस्त सौख्य जो,
प्रसिद्ध आत्यंतिक इन्द्रियार्थ हैं,
बनें भले साधक नाक-लोक के,
परन्तु वे केवल-ज्ञान नाशते।

(६)

मनुष्य जो भारत-भूमि में हुये,
कभी समुत्पन्न किसी प्रदेश में,
अवश्य ही वे कर यत्न से सके
विमुक्ति की प्राप्ति स्व-कर्म-नाश से।

(७)

जहाँ न होता गुण-गान देव का,
जहाँ न हों सेवक साधु धर्म के,
जहाँ प्रतिष्ठा शुभ कर्म की न हो,
न देश है, केवल क्लेश-भूमि है।

---

[१]शरण-स्थान। [२]स्वर्ग। [३]प्रसिद्ध।

(८)

प्रसिद्ध भू में यह आर्य्य-खंड है,
हुई यहीं उन्नति कर्म[१]-धर्म की,
तपस्वियों के बहु योग-याग से
विशुद्ध है, सात्विक है, पवित्र है।

(९)

समुच्च-आदर्श-विधायिनी मही
प्रसिद्ध है भारत सर्व विश्व में,
यहाँ महा-मंत्र-मयी प्रभा लिए
सु-धर्म-साम्राज्य सदैव सोहता।

(१०)

जहाँ मही का दृढ़ मेरु-दंड-सा
समुच्च प्रालेय-गिरीन्द्र[२] राजता,
महीध्र[३] कैलाश विशाल मुंड-सा
किरीट-सा मेरु विराजता जहाँ।

(११)

सु-केश-सी कानन-श्रेणियाँ जहाँ
प्रलंब-माला-मयि-अर्क-जान्हुजा[४],
कटिस्थ विन्ध्याद्रि नितम्ब-देश-सा
लसा पद-क्षालन-शील सिंधु है।

---

[१]असि मषि आदि षट् कर्म। [२]हिमालय पर्वत। [३]पर्वत। [४]जमुना और गंगा।

(१२)

पुरा इसी भू-तल-वाम-भाग में
विदेह-नाम्नी, हृदय-स्थली-समा,
अपूर्व-आभा-मयि पूर्व-मेदिनी
अभूत थी, अद्भुत थी, अनूप थी ।

(१३)

विदेह[1] होते तप से नरेन्द्र थे,
विदेह होते जप से मुनीन्द्र थे,
विदेह होते नर दान-मान से,
विदेह था सार्थक नाम देश का ।

(१४)

विशाल तुंग-ध्वज चैत्य-[2]धाम से
प्रभूत शोभा-मय दिव्य देश था,
यहीं किसी काल, किसी प्रदेश में
जिनेन्द्र-संस्थापित धर्म-संघ था ।

(१५)

मुनीन्द्र-संचालित धर्म का यहीं
प्रचार था चारु चतुर्दिशा हुआ,
यहीं अहिंसा-व्रत के व्रती सुधी
स्व-धर्म के पालन में प्रसक्त[3] थे ।

---

[1]देह-भान-विहीन । [2]मंदिर । [3]लग्न ।

(१६)

स्व-ज्ञान-संवर्धन हेतु वे सुधी,
अधीत[1]-एकादश-अंग-धर्म हो,
अवश्य ही आचरते अजस्र थे
सुतीर्थ-तीर्थंकर-पाद-अर्चना ।

(१७)

सुधी यहाँ के जिन-धर्म-संयमी
प्रसक्त निःश्रेयस-प्राप्ति में रहे,
धरित्रि आ-पत्तन[2]-ग्राम-पल्लिका[3]
जिनेन्द्र-अर्चा-रचना-निलीन थी ।

(१८)

विभावना[4] षोडश[5] कारणादि की
विचारते थे जिन-धर्म के ध्वजी;
प्रसाधना भी बहु-कर्म-त्याग की
अशेष प्राणी करते अजस्र[6] थे ।

(१९)

अनेक प्राणी बहु पुण्य-लाभ स
निवास पाते चिर इन्द्र-लोक में;
पुनः वही हो अवतीर्ण, जीवनी
मुदा बिताते इस कर्म-भूमि में ।

---

[1]पठित । [2]ग्राम । [3]छोटा ग्राम । [4]विचार । [5]तीर्थंकर बनने की सोलह भावनाएँ । [6]निरंतर ।

(२०)

बने फलीभूत स्व-कर्म-त्याग में
पधारते थे उस उच्च लोक में
जहाँ नहीं जा सकते सुरेन्द्र भी;
उन्हीं नरों की यह जन्म-भूमि है।

(२१)

यहीं गृहों में अति उच्च चैत्य थे,
यहीं बनों में नर योग-लग्न थे;
सुदुर्लभा मानव-धर्म-भावना
इहैव[1] क्रीड़ा करती अजस्र थी।

(२२)

यहीं कहीं कुंडल[2] नाम की पुरी,
स्वदेश के कुंडल-सी मनोरमा,
समुच्च प्राकार[3] समेत सर्वदा
अराति[4] से रक्षित विद्यमान थी।

(२३)

यहीं कभी केवल-ज्ञान-संयमी–
समाज तीर्थंकर के लिए मुदा
सदैव कल्याणक[5] में निमग्न था,
मिलिंद ज्यों पद्म-पराग-पान में।

---

[1]यहीं। [2]कुंड (ल)=क्षत्रिय-कुंड, तड़ागके चतुर्दिक् बसे होने के कारण गोलाकार। [3]प्रकोष्ठ, घेरा। [4]शत्रु। [5]कल्याण देनेवाली पूजा।

(२४)

समुच्च चैत्यालय, धर्म-सिंधु की
तरंग-माला-सम, वर्तमान थे;
इसी धरा में जय-घोष से मुदा
अहर्निशा शब्दित देव-धाम थे।

(२५)

यहाँ लिए संपति धर्म-भाव की
स्व-हस्त में दंपति देव-युग्म[१]-से
अजस्र ही मंदिर-द्वार से मुदा
निविष्ट होते, कढ़ते स-भक्ति थे।

(२६)

उदार प्राणी निज द्वार पै खड़े
विलोकते थे पथ दान-पात्र का;
निवेश-शीर्षस्थ ध्वजा-समूह भी
बुला रहे थे सुर स्वर्ग-लोक से।

(२७)

पुरी-निवासी जन सत्य-मार्ग में
विलीन थे धर्म-रहस्य-खोज में,
सदा सदाचार-विमर्ष में लगे
पगे हुए थे पर-लोक-भाव में।

---

[१]जोड़ा या दंपति।

(२८)

यहीं यशस्वी हरि-वंश-व्योम के
दिनेश सिद्धार्थ प्रदीप्तमान थे;
प्रसिद्ध वे भूपति सार्वभौम थे,
सतोगुणी थे, जिन-धर्म-दूत थे ।

(२९)

महा विवेकी, शुभ-लक्षणाश्रयी[१],
कला-गुणाधार, अपार विक्रमी,
प्रसक्त थे वे व्रत-शील-ध्यान में
अजस्र ही सम्यक-दृष्टि-युक्त थे।

(३०)

अनक-विद्याधर-भूमि-गोचरी-
प्रजा-जनानंद-विधातृ[२] भूप थे;
बहूत्सवा[३] क्षत्रिय-कुंड-भूमि के
नरेश सिद्धार्थ प्रसिद्धिवान थे ।

(३१)

सदैव विद्वद्वर-भृंग-मंडिता,
नृपाल की, शास्त्र-प्रसून-संयुता
सुपर्व[४]-पत्रान्वित थी विराजती
सभा, महा मंजुल कल्प-वृक्ष-सी ।

---

[१]शुभ लक्षणों का आश्रय लेनेवाले । [२]रचनेवाले । [३]अनेक उत्सव वाली । [४]देवता ।

(३२)

प्रसिद्ध थी जो धनदाश्रिता[1] तथा
सदैव सम्मानित धर्म-राज[2] से,
समाश्रिता जो गुरु[3] से अजस्र ही
सभा सुधर्मा कवि[4]-संयुता लसी।

(३३)

सुवर्ण-वर्णा, ललिता, मनोहरा,
सभा लसी यों पद-न्यास-शालिनी,
विरंचि-सिद्धार्थ-युता लखी गई
शरीरिणी ज्यों अपरा सरस्वती।

(३४)

उसी सभा में अहमिंद्र-से लसे,
नरेन्द्र थे, देख जिन्हें तुरंत ही
न स्रंश[5] होते रिपु-शस्त्र ही वरन्
दुखी नरों के दुख-दैन्य भागते।

(३५)

जिन्हें सदा उत्कट लालसा रही
विलोक लें विग्रह[6] कल्प-वृक्ष का,
कवीन्द्र वे भूप-सभा-निविष्ट हो
सनाथ भू में सब भाँति होगये।

---

[1]धनी अथवा कुबेरसे युक्त। [2]धर्माधिकारी, यमराज। [3]बृहस्पति या गुरु। [4]शुक्र या कवि। [5]गिरते या पतित होते। [6]शरीर।

(३६)

परंतु जो सर्वद[1] सर्वदा उन्हें
विचारते थे, वह यों निराश थे,
न पीठ पाई अरि-वृन्द ने कभी,
न वक्ष देखा पर-नारि ने तथा।

(३७)

तथैव सर्वज्ञ न भूमि-पाल थे,
न जानते थे इतना कदापि वे,
नकार होती किस भाँति की, अहो !
अनाथ को, आश्रित को, अभाग्य[2] को—

(३८)

अराति के शोणित से प्रसिक्त जो,
कृपाण-धारा-पथ, मार्ग से उसी,
निवेश में आगत इन्दिरा[3] हुई
बहिर्गता कीर्ति हुई नरेश की।

(३९)

प्रसिद्ध है जो बल कर्म-राज का
तथा महा विक्रम[4] शेष-नाग का,
समान एकत्र हुए शरीर में
अनूप-सिद्धार्थ-धरित्रि-पाल के।

---

[1]सब कुछ देने वाले। [2]भाग्य-हीन। [3]लक्ष्मी। [4]पराक्रम।

(४०)

न मेरु थे, क्योंकि गया सु-दूर सो,
हिमाद्रि भी थे न, बना शिलाढ्य जो,
मुकुन्द[1] अब्धिस्थ,[2] गिरीश[3] नग्न हैं,
नरेश क्या थे, जन जानते न थे।

(४१)

सदा प्रजा-रंजन, धर्म-पालना,
सुपात्र को दान, जिनेन्द्र-अर्चना,
विचार-संशोधित चार कार्य थे
महान सिद्धार्थ नराधिनाथ के।

(४२)

सरस्वती थी वदनारविन्द में,
अजस्र था दान करारविन्द में,
स्व-ध्यान जैनेन्द्र-पदारविन्द में,
स्व-राज्य-लक्ष्मी हृदयारविन्द में।

(४३)

भयंद हेमन्त-जलेव[4] भूप की
सुदीर्घ हेमन्त-निशेव आयु थी,
सुसह्य हेमन्त-रवीव पार्थ[5] के
विनष्ट हेमन्त-नलेव शत्रु थे।

---

[1]विष्णु। [2]समुद्रमें। [3]शंकर। [4]जल-सी। [5]सिद्धार्थ।

(४४)

प्रसन्न लक्ष्मी गृह में विराजती,
तथैव चिंतामणि राज्य-कोष में,
बसी विधात्री[१] मुख-मध्य शोभना,
प्रचंड चंडी भुज-दंड पै लसी।

(४५)

नरेन्द्र भू पै मलयाद्रि-तुल्य थे
महार्ह[२]-शाखा-सम हस्त में लसी
कृपाण सर्पाकृति[३], जो निकालती
सुकीर्ति का कंचुक[४] शत्रु-कंठ से।

(४६)

सुधैर्य्य, लावण्य, तथा गँभीरता,
अनूप तीनों गुण हैं समुद्र में;
परन्तु जो नेत्र-प्रमोद दे सके
नरेन्द्र-सा विग्रह[५] सो न पा सका।

(४७)

न स्वप्नमें भी रण-मध्य भूप को
विमोचती थी सुभगा जयेन्दिरा[६];
प्रभाव[७] से पूर्ण यथैव कान्त को
न छोड़ती है वनिता रति-प्रिया।

---

[१]सरस्वती। [२]चंदन। [३]सर्प की आकृति की। [४]तन-त्राण, सन्नाह। [५]शरीर। [६]विजय-लक्ष्मी। [७]वर्चस्व।

(४८)

नृपाल थे व्यस्त सदैव आर्त के
विषाद के भंजन में स-कष्ट[1] के,
न शंखपद्मी न गदी[2], परन्तु वे
यथार्थतः दो भुज के मुकुन्द थे।

(४९)

सदा द्विजावास[3] तथैव निर्मली
विशाल थे जीवन[4]-धाम राज्य के;
तड़ाग–से शोभित पद्म-युक्त वे
नरेश तृष्णा हरते अधीन की।

(५०)

नृपाल कालानल शत्रु-पुंज को,
लखे गये कल्प-फली[5] कलाढ्य-से;
उन्हें शरीरी रति-नाथ-तुल्य ही
विलोकती थी गृह-इन्दिरा प्रिया।

(५१)

नरेश की कीर्ति अराति-ओक[6] में,
अरण्य में, अंबुधि में, अहार्य[7] में;
लसी अधो-भूतल-अंतरिक्ष में
महा मनोज्ञा बहुरूपिणी-समा।

---

[1]दुःखी (मनुष्य) [2]गदा-युक्त। [3]पक्षी या ब्राह्मणों का निवास।
[4]जल। [5]वृक्ष। [6]गृह। [7]पर्वत।

[मालिनी]

(५२)

जलद-पटल से जो रुद्ध होता नहीं है,
त्रसित-ग्रसित होता राहु-द्वारा नहीं जो,
अपहृत-छवि नारी-वक्त्र[1] से भी न होता
यश-शशधर[2] ऐसा भूप सिद्धार्थ का था।

[वंशस्थ]

(५३)

महीप सिद्धार्थ प्रतापवान की
अनूप भार्य्या त्रिशला मनोरमा
विराजती थी छबि-गेह में शुभा
प्रदीप-सी मंजु प्रदीप-दर्शिनी।

(५४)

गुणान्विता, यौवन-संपदन्विता,
सु-पंडिता, बुद्धि-विवेक-शालिनी,
प्रकाशती चंद्र-कला-समान थी
नृपाल-चित्तोदधि-मोद-वर्द्धिनी।

---

[1]मुख। [2]चंद्रमा।

(५५)

सु-आनना सुन्दर-चंद्र-कान्त-सी,
सुकेशिनी नील-शिखा[1]-समान थी,
सु-पाद से आरुण[2] पद्म-राग-सी,
सु-शोभिता रत्न-मयी सुभीरु[3] थी।

(५६)

महा मनोज्ञा गुरु[4] वक्ष की प्रभा
समुज्वला थी मुख-चंद्र-चंद्रिका,
शनैश्चरा[5] थी युगली सु-पाद की,
नृपालिका थी ग्रह-राशि-सी लसी।

(५७)

शरीर की यष्टि[6] लता-समान थी,
उरोज थे श्रीफल-से लसे जहाँ,
प्रसून-से अंग विलोक भूप भी
मिलिन्द-से मुग्ध बने अहर्निशा।

(५८)

दिवा-विलासी[7] मुख का प्रकाश था,
उरोज थे बन्द सरोज-युग्म-से;
मृणाल-से हस्त लसे अनूप थे,
सरोजिनी-सी त्रिशला ललाम थी।

---

[1]मयूरी। [2]लाल। [3]स्त्री। [4]बृहस्पति, गौरव-युक्त। [5]धीरे चलनेवाली अथवा शनि। [6]लाठी या लंबाई। [7]कमल।

(५९)

सु-पुष्पिता　दन्त-प्रभा-प्रभाव से,
नृपालिका[1] पल्लविता सु-पाणि से,
सुकेशिनी　मेचक[2]-भृंग-यूथ　से,
अनल्प थी शोभित कल्पवल्लरी ।

(६०)

नितम्ब से स्थूल, कृशा सु-मध्य से,
उरोज　से　उन्नत-भार-संयुता,
समायता लोचन-युग्म से लसी,
सुरांगना-सी त्रिशला मनोरमा ।

(६१)

विरंचि ने अद्भुत युक्ति से उसे
सुधामयी शक्ति प्रदान की मुदा ।
विलोचनों में विष-दिग्ध[3]बाण की;
कटाक्ष में मृत्युमयी कृपाण की ।

(६२)

विलोकती मंजु मृगी-समान ही
बनी मराली-सम चाल-युक्त सी;
सदा पिकी-सी कल कूजती हुई
निवेश को थी रचती अरण्य-सी ।

---

[1]रानी । [2]नीला । [3]बुझे हुये ।

(६३)

शरीर को भूषित भूषणावली
सदा बनाती, यह तो वृथा कथा,
विभूषणों को अपने शरीर से
बना रही प्रत्युत[1] सो सुरम्य थी ।

(६४)

सुधाधरा सुन्दरि मिष्ट-भाषिणी
सुभाषितों से नृप को विमोहती,
विलोचनों से चकिता मृगी-समा
विलोकती थी मुख प्राणनाथ का ।

(६५)

विलास थे मंजु कला-निधान[2]-से,
अशोक-पत्राधर शुभ्र आस्य में,
अराल[3] विक्षेप कटाक्ष का सदा
सरोज-माला रचता मनोज्ञ था ।

(६६)

अहो ! बिना ज्या[4] भ्रुव-चाप की मुदा
कटाक्ष-बाणावलि से नृपाल का
नृपालिका चंचल चित्त बेधती
हुयी, लसी शर्व[5]-वधू अपार्थिवा ।

---

[1]बल्कि, अपितु । [2]चंद्रमा । [3]टेढ़ा । [4]प्रत्यंचा । [5]शंकर या भील ।

(६७)

मनोज्ञ बंधूक[1]-सुबंधु ओष्ठ थे,
महा कँटीले दृग केतकाभ[2] थे,
कपोल थे मंजु मधूक[3]-पुष्प से
रदावली दाडिम-बीज-सी लसी ।

(६८)

असेत वेणी मधुपावली-समा,
सरोज-सा आनन भी मनोज्ञ था,
सुकोमला बाहु-छटा मृणाल[4]-सी,
कटाक्ष थे बाण महेश-शत्रु[5] के ।

(६९)

अलक्त बिम्बाधर-सी सरस्वती,
सुरापगा थी मणि-कर्णिका—प्रभा,
सु-चारु वेणी यमुना-प्रवाह-सी,
नृपाल-दारा शुभ तीर्थ-राज[6] थी ।

(७०)

सुगंध होती यदि जातरूप[7] में,
प्रसूत होती सुमना[8] त्रिरेख[9] से,
अवश्य पाती कटु साम्य धातु में
विलेखनीया सुषमा मुखाब्ज की ।

---

[1]बिम्वाफल । [2]केतकी-पुष्पके सदृश । [3]महुवा । [4]कमल-नाल । [5]कामदेव । [6]प्रयाग । [7]स्वर्ण । [8]चमेली । [9]शंख ।

(७१)

यथा-यथा अंबर त्यागती हुई
प्रसारती स्वर्ण-मरीचि भूमि में
तथा-तथा लोचन डालती हुई
विलोकती श्याम-सरोज-वृष्टि[1] थी

(७२)

तडाग में कंज, निशेश व्योम में,
समुद्र में रत्न, प्रसून भूमि में,
रचे पुरा वेधस[2] ने कहीं-कहीं,
परन्तु एकत्र किये यहीं-यहीं ।

(७३)

नरेन्द्र-जाया त्रिशला मदालसा
प्रभूत सौंदर्य्य-सुखोपमा बनी
निवेश के अंगन में वरांगना
अभौम[3]-आभा-अधिदेवता-समा ।

(७४)

नृपाल के अंगन में अहर्निशा
विशुद्ध-दुग्ध-च्छवि-अंग-अंगना ।
विराजती केतक-पत्र-लोचना
अनंग के आयुध-सी विशाल थी ।

---

[1]"जनु तहँ बरस कमल-सित-स्रयनी" (तुलसी) [2]ब्रह्मा । [3]स्वर्गीय ।

(७५)

कुच-द्वय-श्रीफल-भंग-कारिणी
नृपाल-पत्नी इस भाँति राजती,
सुधा-समापूरित स्वर्ण-कुंभ से
अनंग[1] का ज्यों अभिषेक साजती।

(७६)

मुखेन्दु था इन्दु कलंक-हीन ही,
अलक्त[2]-बिंबाधर-बिंब-हीन ही,
अहर्निशा फुल्ल-सरोज नेत्र की
अनूप आभा अवलोकनीय थी।

(७७)

बनी विमाना[3] त्रिशला-मुखाब्ज से
अवांछनीया शरदिन्दु-चंद्रिका,
अनादृता थी करती सरोज को
विलोचनों की प्रचलांचला[4] प्रभा।

(७८)

सु-चारु भ्रू की अमिताभ भंगिमा
अनंग-चाप-च्छबि-मान मारती,
नृपांगना - मेचक - केश - कल्पना
पयोद की भी सुषमा सँहारती।

---

[1] कामदेव। [2] आरक्त। [3] मान-हीना। [4] कनखियों तक चंचल।

(७९)

तले घनों के शरदिन्दु की प्रभा
तथा त्रिरेख-च्छबि कोक-द्वन्द्व भी,
पुनश्च रंभा-अरविन्द-युग्म से
विचित्र थी शिल्प-कला विरंचि की ।

(८०)

समेत-तारल्य मनोज-चाप हो,
पयोज[1] में भी यदि हो अरालता[2],
निशेश में जो बसती सुगंध हो,
विलोकिय तो त्रिशला-मुखोपमा ।

(८१)

सरोज-सा वक्त्र, सु-नेत्र मीन-से,
सिवार-से केश, सुकंठ कंबु-सा,
उरोज ज्यों कोक, सु-नाभि भौंर-सी,
तरंगिता थी त्रिशला-तरंगिणी ।

(८२)

अनूप धारा-सम रोम-राजि थी,
मनोज्ञ वीची[3] त्रिबली विराजती
सु-कर्ण थे तीर्थ-शिला-समान ही,
पयस्विनी थी त्रिशला सुशोभिता ।

---

[1]कमल । [2]भंगिमा । [3]लहर ।

(८३)

सरोज-लक्ष्मी[१] कर में विराजती
सु-ओष्ठ-बिंब-च्छबि चूमती हुई,
निशेश न्योछावर आस्य[२] पै हुआ
प्रवाल[३]-शोभा पद छू सुखी हुई।

(८४)

मुखाम्बुज-क्षोद सु-तीर्थ-अंबु-सा,
सु-दन्त ज्यों अक्षत, नेत्र कंज-से,
उरोज थे उन्नत नारिकेल-से,
अनंग-पूजा-समिति-प्रभा लसी।

(८५)

विलोचनों में श्रुति[४]-सर्पिण प्रभा,
पदाब्ज में यावक[५]- दर्पिणी प्रभा,
कराग्र में उत्पल-अर्पिणी प्रभा,
नृपालिका थी रति-तर्पिणी[६] प्रभा।

(८६)

उसे अलंकार-प्रकार भार थे,
उरोज थे भार, सरोज भार थे;
सु-केश थे भार, नितंब भार थे,
बनी इति-श्री[७] वह सौकुमार्य्य की।

---

[१]शोभा। [२]मुख। [३]मूँगा। [४]कान। [५]महावर। [६]तृप्त करनेवाली। [७]पराकाष्ठा।

(८७)

नृपाल पत्नी-प्रति प्रेम में पगे,
जभी शिखा से पद लौं विलोकते
निपात होता महि में न दृष्टि का
पुनः शिखा लौं नख से निवर्तती[१]।

(८८)

अनूप लावण्य-समुद्र-उद्भवा
मनोज्ञ रत्नावलि-सी नख-प्रभा,
अलक्त[२] से रंजित शोभना लसी
मृगांक[३]-श्री-खंड[४]-विलिप्त रश्मि-सी।

(८९)

नितम्ब-संपीडित पाद-युग्म में
मनोहरा मेचक-नूपुरावली
विराजती थी त्रिशला-पदाब्ज में,
स-रोष भ्रू की जिस भाँति भंगिमा।

(९०)

सु-वर्ण-मंजीर[५]-मयी सु-शोभना
मनोज्ञ जंघा-लतिका-द्वयी लसी,
यथैव शाखा युग सौकुमार्य की
प्ररूढ़ हों कुंकुम से विलेपिता।

---

[१]लौटती। [२]महावर। [३]चंद्रमा। [४]लाल चंदन। [५]बिछुवे।

(९१)

महान-मुग्धा-वनिता-वरांग म
असेत केशांकुर यों विराजते,
धरे गये तर्पण-हेतु काम के
नितान्त काले तिल स्वर्ण-पात्र में।

(९२)

मनोज की उत्तम रंग-पीठ-सी
शृँगार के विष्टर[१]-सी सु-वर्णिनी,
ललाम-लावण्य-प्रसार-पंक्ति-सी
प्रशंसनीया जघन-स्थली लसी।

(९३)

निबद्ध कांची कटि में मनोज्ञ थी,
यथैव गंगा-गत सारसावली[२];
स-दर्प बाँधी अथवा मनोज ने
द्वितीय मौर्वी[३] निज चाप में यथा।

(९४)

नितम्ब को देख नृपाल-चित्त में
अनूप ऐसी-कुछ तर्कना उठी
लसी शिलाएँ युग चंद्र-कान्त की
कि मंजु चक्र-द्वय हों मनोज के।

---

[१]बिस्तर। [२]कमलश्रेणी। [३]प्रत्यंचा।

(९५)

लसी प्रभा पेशल[१] पृष्ठ-भाग की,
प्रशस्त हो हाटक[२]-पट्टिका यथा;
कि पत्र रंभा-फल का विराजता
अनूप दो-श्रीफल-मध्य में उगा।

(९६)

प्रविष्ट हो श्यामल रोम-वल्लरी
विराजती थी तट नाभि-रंध्र[३] के,
कि मेखला[४] की मणि से विताड़िता
असेत लेखा तम की प्रकाशती।

(९७)

सवार होके कुच-कुंभ-यान पै
नृपाल की दृष्टि भ्रमी इतस्ततः।
न पा सकी पार प्रकाश-सिंधु का
समा गयी नाभि-समान भौंर में।

(९८)

नृपेन्द्र ने कामिनि-मध्य-देश को
विलोकते ही निज दृष्टि दूर की।
गिरे नहीं ईक्षण[५]-भार से कहीं
सु-मध्य में संस्थित अस्ति-नास्ति के।

---

[१]कोमल। [२]स्वर्ण। [३]छिद्र। [४]करधनी। [५]दृष्टि।

(९९)

न था, अहो !, हीरक-हार वक्ष पै
लसा घटी-यंत्र सु-नाभि-कूप में;
अनूप लावण्य-कमंध[1] से जिसे
अवश्य था यौवन-वृक्ष सींचना ।

(१००)

जिगीषु[2] कामावनि-पाल की कुटी,
न कंचुकी उच्च उरोज पै लसी,
बनी स-वस्त्रा रति-नाथ-शत्रु के
अहार्य[3] पै जीत समस्त मोदिनी ।

(१०१)

उरोज-संबिद्ध नृपाल-चित्त में
महान इच्छा सुत-प्राप्ति की जगी;
विभिन्न जो है करते निजांग को
परांग के छेदक निर्व्यथा[4] वही ।

(१०२)

नलोपमा,[5] अक्षवती[6], स-ऊर्म्मिका,
मनोहरा, सुन्दर-पर्व[7]-संकुला,
नरेन्द्र-जाया-कर-अंगुली लसी
कथा महाभारत के समान ही ।

---

[1]पानी । [2]जीतने की इच्छावाली । [3]पर्वत । [4]बिना कष्ट के । [5]नल की लकड़ी या राजा विशेष । [6]चौसर । [7]पोर ।

(१०३)

विराजमाना दश अंगुलीय[1] की,
परम्परा-सी सुम-चाप-लक्ष्य की,
प्रकोष्ठ में कंकण था लसा, यथा
प्रसून-ज्या मंजु प्रसून-बाण की।

(१०४)

मृणाल से बाहु, अशोक-पत्र-से
लसे करों के तल भूप-नारि के,
यथैव पुष्पेषु[2]-शरासनस्थ हों
सरोज के पल्लव रक्त-वर्ण के।

(१०५)

सुनी सुधा-मंडित-माधुरी-धुरी
जभी सु-वाणी त्रिशला मुखाब्ज से
पिकी कुहू-रोदन में रता हुइ,
प्रलंब[3] भू में परिवादिनी[4] बनी।

(१०६)

विलोक योषा म्रियमाण हो गये
नृपेन्द्र पुष्पेषु-इषु-प्रहार से,
मिली प्रिया के मुसकान की सुधा
जिये, हुये उत्थित भूमि-अंक से।

---

[1]अंगूठी। [2]कामदेव। [3]लेट गयी, अपमानित हो गयी। [4]वीणा।

(१०७)

न इन्दु भी है त्रिशला-मुखेन्दु-सा,
असार सारी कवि-कल्पना हुई,
कटाक्ष-भ्रू-भंग कहां सुधांशु में
प्रसाद[१]-कोपादि कहाँ शशांक में।

(१०८)

विलोकते ही त्रिशला मुखेन्दु को
नृपाल के नेत्र चकोर हो गये,
परन्तु ज्यों ही क्षण-एक के लिये
पुनः विचारा भ्रम व्यक्त हो गया।

(१०९)

कहाँ प्रिया के मुख को महा प्रभा,
वराक[२] शुभ्रांशु[३] कहाँ, न तुल्यता;
कलंक से श्रीत्रिशलास्य हीन था
स-दोष दोषाकर[४] विश्व-ख्यात है

(११०)

समुद्र में जन्म, मलीन प्रात में,
सदैव न्यूनाधिक, राहु-ग्रस्त भी,
वियोग में दुःखद चक्रवाक को
न अब्ज[५] भी था त्रिशला मुखाब्ज-सा।

---

[१]प्रसन्नता। [२]बेचारा। [३]चंद्रमा। [४]चंद्रमा। [५]चंद्रमा।

(१११)

सरोज-द्रोही, रस-शून्य-देह है,
सुगंध से हीन शशांक ख्यात है,
न साम्य पाती त्रिशला-मुखेन्दु का
मलीमसा[1] प्राकृत चंद्र की कला।

(११२)

द्विधा किया चन्द्र विरंचि ने यदा
मनोहरा की रचना कपोल की,
मृगांक[2]-निः[3]ष्यंदित-बिन्दु से तदा
महा मनोज्ञा रदनावली रची।

(११३)

अनूप ताली[4]-दल से मनोज्ञ वे
सु-कर्ण थे शाण कटाक्ष-वाण के।
मनोज्ञ नासा सित-मौक्तिकान्विता,
सुलेख्य तूणीर[5] प्रसून-पुंख[6] का।

(११४)

शशांक के मंडल में सरोज दो
प्ररूढ़ होते यदि, तो अवश्य ही
कवीन्द्र पाते बहु कष्ट के विना
महामनोज्ञा त्रिशला-मुखोपमा।

---

[1]मैली। [2]चंद्रमा। [3]निकला हुआ। [4]ताड़-वृक्ष। [5]तरकस। [6]कामदेव।

(११५)

असेत वेणी[१] बन सर्पिणी-समा
नितम्ब से मस्तक पै चढ़ी हुई
सिँदूर-जिह्वा अपनी पसारती
मुखेन्दु-पीयूष-रसावलेहिनी[२] ।

(११६)

न सृष्टि थी प्राकृत अब्ज-योनि[३] की
मनोरमा श्री त्रिशला सुलोचना,
स्वरूप की संपत्ति और ही वनी
अनन्य-चातुर्य्य-परंपरा-मयी ।

(११७)

अमूर्त, तो भी, कटि मूर्त तंत्र[४] थी,
अशंक, तो भी, तरला सु-दृष्टि थी,
अहो, अलंकार-विहीन अंग की
महा मनोहारिणि अंगना लसी ।

(११८)

यथा-यथा भूप धँसे हृदब्धि में
तथा-तथा कंज-उरोज भी बढ़े;
यथा-यथा अब्ज-पयोज[५] यों हँसे
तथा-तथा नेत्र-सरोज भी बढ़े ।

---

[१]चोटी । [२]चाटनेवाली । [३]ब्रह्मा । [४]तार । [५]चंद्रमामें उत्पन्न कमल ।

(११९)

सरोज था, या मुख था, कि इन्दु था,
सु-मीन थे नेत्र, कि काम-वाण थे,
सु-गुच्छ थे, या खग थे, उरोज वे
तडिल्लता[1] थी त्रिशला कि तारिका।

(१२०)

न देव-कन्या वह थी, न किन्नरी
अनूप गंधर्व-कुलोद्भवा न भी,
विरंचिका भी तप किन्तु रूप से
प्रणाश[2] में श्री त्रिशला समर्थ थी ।

(१२१)

मनोज्ञ भ्रू कार्मुक[3] के समान थी,
कटाक्ष भी थे इषु-तुल्य तीक्ष्ण ही,
नृपाल के चंचल-चित्त-वेध में
नृपालिका भील-वधू-समा लसी ।

(१२२)

अतंद्र-चंद्राभरणा मनोज्ञ थी
महा समुद्दीपित-मन्मथा तथा,
अनूप-तारा-तरला-नृपाल की
वधू लसी शारद[4]-शर्वरी-समा ।

---

[1]बिजली । [2]नाश । [3]शरासन । [4]शरद्ऋतु की ।

(१२३)

सु-ओष्ठ पीयूष-भरे हुये लसे,
सु-वाक्य पीयूष-भरे हुये लसे
सु-नेत्र पीयूष भरे हुये लसे,
सु-वक्ष पीयूष भरे हुये लसे ।

(१२४)

स-तारिका, अभ्र-विहीन रात्रि-सी,
मनोरमा सुन्दरता-निकुंज-सी,
तमिस्र-ज्योत्स्ना-मय भूप-भामिनी
निकेत के प्रांगण[1] में विराजती ।

(१२५)

विलोकने को यदि अब्ज-योनि ने
दृगब्ज[2] दो जो महि-पाल को दिये,
नृपालिका के सुषमा-समूह को
न था बहाना कि न हो धरित्रि में ।

(१२६)

समस्त-सौन्दर्य्य-समावृतांगना
नृप-प्रिया सुन्दरताऽनभिज्ञ[3] थी,
बसी महीपाल-रसाल-चित्त में
लसी स्वयं सुन्दरता-स्वरूपिणी ।

---

[1]आँगन । [2]नेत्र-कमल । [3]अनजान ।

(१२७)

नृपालिका के हँसते कपोल पै
प्रतीत होता लघु एक गर्त-सा
विचार उन्मज्जक[1]-से नृपाल के
न लौट पाये उस गाढ़ सिंधु-से

(१२८)

वसन्त-प्रत्यूष, शरद्दिनान्त से
सजे हुए सुन्दर अंग-अंग थे,
पिशंग[2] हेमन्त-समान मौलि पै
सहस्र-वर्षा-ऋतु-रूप-रंग थे।

(१२९)

बता रहा घूँघट था कि राजता
यथार्थ सौन्दर्य्य प्रगाढ़ कुंज में
जहाँ जभी दो मन मेल खा गये
कि प्रेम-कर्ता बन प्रेमिका गया।

(१३०)

मनोरमा सुन्दरि कान्त-कुंज-सी
कपोत के कूजन से निकूजिता,
कि पक्ष-गुप्ता[3] कल-हंसिनी-समा
सुरांगना थी वह छद्म-वेपिणी।

---

[1]गोता खोर। [2]पीला। [3]जिसके पंख अदृश्य हों।

(१३१)

विभावरी[1] की वर कर्णिका-समा
मनोज्ञ थी चंद्र-कपोल-रंजिनी,
स्वकीय-सौन्दर्य्य-प्रभूत कान्ति से
विमंडिता थी वह भूप-भामिनी ।

(१३२)

शरीर था कुंकुम-पंक से रचा,
उरोज पै कंपित-हार-भार था ।
पदाब्ज में नूपुर हंस-शब्द के;
प्रिया[2] न होती त्रिशला महीप को ?

(१३३)

न हाथियों से, हय से, हिरण्य से,
न धाम से, या धन से, धरित्रि से;
नृपाल सिद्धार्थ समृद्धिवान थे
अखंड-सौभाग्यवती-स्वनारि से ।

(१३४)

मुखेन्दु से जो उडुराज-सी लसी,
सुमध्यमा जो मृगराज-सी लसी,
मनोरमा सो नृपराज की प्रिया
सु-चाल से थी गजराज-सी लसी ।

---

[1]रात्रि । [2]प्यारी ।

(१३५)

प्रदीप को अंबर-वात[1] से मुदा
सदैव निर्वाण[2]-प्रदान-सक्त थी;
अवाप्त[3] थी भूपति को स्व-भाग्य से
विमोक्ष-मूला त्रिशला मनोरमा।

(१३६)

मनोज ने भी निज पुष्प-बाण से
हृदेकता[4] दंपति को प्रदान की
कठोरता आयुध-तीक्ष्णता बिना,
कुमार का संभव मार[5] ने किया।

(१३७)

नृपाल-जाया-उर-रंग-मंच पै
शृँगार-लीला सरसानुपत्ति[6] का
हुआ पटाक्षेप, अहो! नवांक पै
मनोज-से नाटक-सूत्रधार का।

(१३८)

वसन्त स आम्र-लता छुयी गयी,
फँसी कुरंगी दृढ़-बाहु-जाल में,
ग्रसा गया इन्दु तुरन्त राहु से
शराग्र[7] से मौक्तिक विद्ध हो गया।

---

[1]अंचल की हवा। [2]बुझाना। [3]प्राप्त। [4]हृदय की एकता। [5]कामदेव। [6]उत्पत्ति। [7]बाण की नोक।

(१३९)

कपूर-सा दग्ध हुआ, तथापि जो
प्ररोहता प्राणि-शरीर में सदा,
वही विलासी रति-रंग-मंच का
त्रिलोक-जेता स्मर सूत्र-धार है।

[मालिनी]

(१४०)

जय रति-पति ! तेरी हो, तुझे सर्वदा ही
कुलगुरु अबलाएँ मानती केलि में हैं,
पर, अब जिस प्राणी को, सखे ! जन्म देगा,
वह विजित[1] तुझे भी भूमि में आ करेगा।

---

[1]परास्त।

दूसरा सर्ग

[वंशस्थ]

(१)

लखा जभी अच्युत-स्वर्ग[१]-इन्द्र की
समाप्ति को है अब आयु शीघ्र ही,
सु-धर्म-वज्री[२] षट् मास पूर्व ही
कुबेर से यों कहने लगा सुधी :—

(२)

"प्रयाण, हे हे अलकेश ! आशु ही
नृपाल-सिद्धार्थ-निवेश को करो,
वहीं, पुनः भारत-क्षेत्र में, सखे !
सु-जन्म होगा अब अच्युतेन्द्र का।

(३)

"नवीन तीर्थंकर वर्द्धमान के
सु-नाम से ले अवतार भूमि में,
समुच्च दे केवल[३]-ज्ञान विश्व को
मुदा करेंगे अति पूज्य मेदिनी।

---

[१]स्वर्ग विशेष। [२]इन्द्र। [३]पूर्ण ज्ञान, कैवल्य।

(४)

"अजस्र वर्षा बहु रत्न की करो ।
अनेक आश्चर्य्य दिखा नरेश को,
नृपाल - जाया - त्रिशला - हृदब्धि में
भरो महा रत्न अभूत स्वप्न के ।"

(५)

सु-धर्म-स्वर्गेन्द्र-निदेश से तथा
मनुष्य-धर्मा[1] द्रुत भूमि को चला ।
स-रत्न धारा नृप-गेह-शृंग पै
अजस्र होने प्रति बार ही लगी ।

(६)

कुबेर-संयोजित मेघ-मंडली
अनूप धारा नव-रत्न-राशि की
गजाग्रणी[2] के पृथुलांग[3]-शुंड-सी
विदेह में आकर वर्षने लगी ।

(७)

सु-धर्म पुण्य-प्रद कल्पवृक्ष के
प्रभाव से रत्न-सुवर्ण-संयुता
अतीव वर्षा षट् मास लौं हुई
नृपेन्द्र-सिद्धार्थ-निवास-भूमि पै ।

---

[1]कुबेर । [2]ऐरावत । [3]मोटा ।

(८)

सु-काल में वर्षण वारि-वाह का
सुवर्ण-वर्षा सब लोक मानता;
जिनेन्द्र का आगम, पुत्र-रत्न हो,
सुरत्न-वर्षा-सम गण्य क्यों न हो ?

(९)

सु-पर्व[१]-गंगा-जल-सिक्त व्योम से
प्रसून सद्याहृत[२] कल्प-वृक्ष के
गिरे, हुआ धाम सुरेन्द्र-धाम-सा
महा-महाराज विदेह-नाथ का।

(१०)

प्रदीप्त माणिक्य प्रतप्त स्वर्ण-से,
अभेद्य हीरे, दिन-नाथ-रश्मि-से,
तथैव वैदूर्य्य[३] सु-वाहु-रत्न[४] भी
मरक्त[५] नीलाश्मक[६] वर्षने लगे।

(११)

तदा गिरे पीतिम पद्मराग भी,
झड़ी महा रक्तिम विद्रुमावली[७],
अजस्र ही मौक्तिक श्रेणियाँ गिरीं
सु-रत्न-गर्भा विलसी वसुन्धरा।

---

[१]स्वर्ग-स्थित। [२]ताज़े लाये हुये। [३]लहसुनिया। [४]गोमेद। [५]मरकत। [६]नीलम। [७]मूँगा।

(१२)

निवेश सिद्धार्थ धराधिनाथ का
लसा धरा में ग्रह-चक्र-सा अहो !
त्रिविष्टपाधिष्ठित[1] वर्द्धमान के
सु-भाग्य की संपति-शालिमा, लखो ।

(१३)

प्रभाव देखो यह जैन-धर्म का
लखो अहिंसामय-शक्ति-प्रेरणा;
विलोक लो केवल-ज्ञान-ऊर्जना[2]
निहार लो अर्चन वर्द्धमान का ।

[द्रुत विलंबित]

(१४)

इस प्रकार दयामय देव के
सुभग आगम की कर सूचना,
चल कुबेर पड़े सुर-लोक को
गगन में सुर-राज[3] दिखा पड़े ।

---

[1]स्वर्ग-स्थित । [2]प्रकृष्टता । [3]इन्द्र (मेघ) ।

[वंशस्थ]

(१५)

अनूप आषाढ़ घनावली घनी
घिरी हुई थी अति मोद-दायिनी
निसर्ग - संपत्ति - विधायिनी मुदा
मनोज्ञ वर्षा-ऋतु वर्तमान थी ।

(१६)

मनोज-हस्ती-सम वारि-वाह[1] थे,
बलाक[2]-श्रेणी सित दंत-पंक्ति थी,
विराजती अंकुश-सी क्षण-प्रभा[3]
झड़ी बँधी मंजु मदाम्बु-धार की ।

(१७)

"सु-कामिनी जो अब मानिनी रही,
मनोज की है अपराधिनी वही"।
चतुर्दिशा दामिनि-व्याज व्योम में
समा गयी काम-नृपाल-घोषणा ।

(१८)

पयोद ने शुभ्र-सुधांशु-बिंब को,
तमिस्र ने चंड दिनेश-दीप्ति को।
नभस्थली ऋक्ष[4]-समूह खा गयी
अतः हुआ रोदन-घोष सर्वशः ।

---

[1]मेघ । [2]बगुला । [3]बिजली । [4]तारागण ।

(१९)

नृपाल के निद्रित काम-भाव को
जगा रहे थे उस काल मेघ यों
अतीव थीं ऊर्जित-घोषणा-भरी
दशों दिशाएँ बहु घोष[1]-संयुता ।

(२०)

निसर्ग सारा अति-अंबु-शैत्य से
स-कंप शीत-ज्वर-ग्रस्त हो गया ।
महान नीरंध्र[2]-पयोद-व्याज से
विहाय[3] में कंबल ओढ़ सो गया ।

(२१)

कि पिंगलाभासित इन्द्र-गोपका
वियोगिनी के बहु रक्त-वान्त-सी,
विराजती थीं महि में इतस्ततः
सँयोगिनी-चित्रित-चैल[4]-खंड-सी ।

(२२)

अजस्र[5] धारा गिरती पयोद से
कलापियों[6] के गण नृत्य-लीन थे,
अभी करेंगे सधवा-समूह के
कृतान्त[7] या कान्त समाप्ति दुःख की ।

---

[1]शब्द । [2]मोटा बिना हुआ । [3]आकाश । [4]चुनरी । [5]निरंतर । [6]मयूर । [7]यम ।

(२३)

पयोद जैसे निज दान-मान से
बना रहे मुग्ध मयूर-वृन्द को,
तथैव कंदर्प स्व-मान-दान से
बना रहा उग्र युवा-समूह को।

(२४)

अनेक-रागान्वित,[१] स्थैर्य्य-हीन भी,
अजस्र दुष्प्राप्य, गुणादि-हीन भी,
नवांगना के रस-सिक्त चित्त-सा
बना रहा प्रावृट्[२] इन्द्र-चाप को।

(२५)

लखो, महा धूसर धूलि से हुआ
प्रमोद देता किसको न खेल से,
स-पुत्रिका[३] के पट-सा विलोकिये,
मलीन है अंबर वारि-वाह से।

(२६)

महान वर्षा यह हो रही, लखो,
सु-वर्ष[४] से वासर दीर्घ हो रहा,
सभी दिशा, नीर-तरंग-युक्त है,
महीप क्यों नीरत-रंग[५] हों नहीं।

---

[१]रंग-युक्त। [२]वर्षा-ऋतु। [३]पुत्रवती। [४]वर्षा अथवा वर्ष। [५]काम-हीन।

(२७)

नरेन्द्र भी यौवन-युक्त हैं तथा
बधू महा-प्रौढ़-पयोधरा लसी,
इसीलिए संगम-लालसान्विता
तरंगिणी-सी त्रिशला लसी तभी ।

(२८)

कदम्ब में मुग्ध-लसे प्रसून हैं,
प्रसून में मंजु मरंद[1] सोहता,
मरंद में लुब्ध मिलिन्द-यूथ हैं,
मिलिन्द में भी मदनानुभूति है ।

(२९)

प्रहृष्ट हैं कामुक चक्रवाक भी,
प्रकृष्ट नृत्यार्दित[2] हैं कपोत भी,
प्रकर्ष को हैं पिक प्राप्त हो रहे,
पिकी, कपोती, लख, चक्र-बालिका ।

(३०)

पयोद गर्जे, जल-धार भी गिरे,
तडिल्लता[3] अंबर में अशान्त हो;
महीप को क्या भय था, निकेत में
प्रिया महा ओषधि-सी विराजती ।

---

[1]पराग । [2]नृत्य से तरल-चित्त । [3]बिजली ।

[द्रुत विलंबित]

(३१)

जिस प्रकार पयोधर अंक में
मचलती तडिता अनुरक्त हो,
उस प्रकार समीप नृपाल के
विलसती त्रिशला अति मुग्ध थी।

[वंशस्थ]

(३२)

महीप बोले प्रिय चाटु-उक्ति[1] से
"प्रिये! धनुर्धारिणि तू विशिष्ट है;
कलंब[2]-ज्या-हीन शरास[3] से, अहो!
बना रही है मन विद्ध मामकी।

(३३)

"सु-दृष्टि कृष्णार्जुन[4] से प्रसक्त है,
तथापि जाती यह कर्ण[5]-पास ही,
प्रिये! नहीं विश्वसनीय चाल है,
विलोचनों की चल-चित्त-वेधिनी।

---

[1]खुशामद। [2]बाण। [3]धनुष। [4]काला और सफेद अथवा नाम विशेष।
[5]कान या नाम विशेष।

(३४)

"समेत हैं यद्यपि ओष्ठ-पत्र भी
सु-हास-पुष्पोद्गम[१] से, मनोरमे !
विलोकते ही तुझको, सुधानिधे !
विलोचनों को फल प्राप्त हो रहा ।

(३५)

"नतांगि[२] ! तेरे युग-चक्षु कंज-से
सदैव ह तत्पर चौर-कर्म में,
न रात्रि को ही मन चित्त लूटते ,
विपत्ति भी हैं दिन को न छोड़ते ।

(३६)

"सरोज क्यों तू रखती स्व-कर्ण पै
रहस्य क्या है कल-भाषिणी, प्रिये !
न मैं हुआ किंचित रुष्ट, उत्तमे !
न आज पर्य्याप्त[३] अपांग-पात क्या ?

(३७)

"स्वदृष्टि कंजायत-लोचने! मुझे
प्रदान, वामे ! करदो अवश्य ही;
सुना गया भूतल में जहाँ-तहाँ ।
'विषस्य, रामे ! विषमौषधं'"[४] अये !

---

[१]वसन्त । [२]नत अंग वाली । [३]काफी । [४]विष की औषधि विष है ।

(३८)

"विलोक के मार्दव[1] अंग-अंग का
प्रतीत होते मुझको, वरानने !
कठोर हैं अंशुक, अंशुमत्फला[2],
शशांक-लेखा, नव मालतीलता ।

(३९)

"त्वदीय पाताल-समान नाभि है,
उरोज हैं उच्च नगाधिराज-से ।
मनोज्ञ वेणी इस भाँति है लसी ।
कलिन्दजा का विनिपात हो यथा ।

(४०)

"सरोज से संभव[3] है सरोज का
सुना गया किंतु न दृष्टि-गम्य है ;
परन्तु तेरे मुख-पुंडरीक में
विलोकता हूं युग पारिजात मैं ।

(४१)

"अनूप आवर्त[4] समान नाभि है,
मनोज्ञ हैं लोचन पारिजात-से;
तरंग-से हैं वलयादि[5] भासते,
मनोज की सुन्दर, अंबु-वापिके!

---

[1]मृदुता । [2]केसर, पराग । [3]जन्म । [4]भौंर । [5]चूड़ी आदि ।

(४२)

"अपांग से अंकुरिता सदैव हो,
सु-वाक्य से पल्लविता बने सदा,
सुपुष्पिता मंजुल हास से रहे
फले मदिच्छा[1] तुझको विलोक के ।

(४३)

"चुरा लिया है युग-मेरु-कान्ति, तो
उरोज का गोपन[2] नीति-युक्त है
परन्तु पाता विधु मान मौलि से
अतः छिपाना उसको अयोग्य है ।

(४४)

"प्रिये ! सदा पूर्णतया मनोहरा
कलंक-हीना छवि देख आस्य[3] की
स-लज्ज भागा विधु उच्च व्योम से
समुद्र में डूब मरा अधीर हो ।

(४५)

"मनोज्ञ है आनन फुल्ल-पद्म-सा
प्रिये ! जपा[4]-पुष्प-समान ओष्ठ हैं,
विलोचनों की छबि निद्र-कंज-सी
प्रसून के संचय-सा शरीर है ।

---

[1]मेरी इच्छा । [2]छिपाना । [3]मुख । [4]गुड़हल का फूल ।

(४६)

"सुमंद, वामे ! पद सौरि[1]-से लसे
सुकेश, भामे ! शित[2] सैंहिकेय[3]-से,
तथैव है यौवन की समुच्चता
महान वक्षोज-गुरु-प्रसार-सी ।

(४७)

"त्वदीय आलिंगन-हेतु, हे प्रिये !
हुआ न क्यों आज सहस्रबाहु[4] मैं,
विलोकने को छवि अंग-अंग की
बना न क्यों, देवि ! सहस्र-चक्षु[5] मैं ?

[द्रुत विलंबित]

(४८)

"मुख लसा उडुराज-समान ही
कटि बनी मृगराज-समा, अहो !
गति, प्रिये ! गजराज-विडंबिनी
कर रही मुझको निज दास है ।"

[वंशस्थ]

(४९)

महीप के काम-प्रसक्त वाक्य से
स-वेग तारल्य-युता हुई प्रिया;
वसन्त का स्पर्श हुआ कि आम्र का
शरीर सर्वांग-प्रफुल्ल हो गया ।

---

[1]शनैश्चर । [2]काला । [3]राहु । [4]राजा विशेष । [5]इन्द्र ।

(५०)

हुयी तभी सो भुज-पंजर-स्थिता
समाकुला बाल-कुरंग-शावकी,
नितान्त शुक्लाम्बरा[१] थी अभी-अभी
निरंबरा[२] भूपति-भामिनी हुई ।

(५१)

विलोकना, सन्मुख भी न देखना,
निषेध भी सम्मति से प्रकाशना,
महीप को उत्तर मौन-मात्र से—
नवांगना का नव केलि-मार्ग था ।

(५२)

उरोज थे उन्नत उग्र[३]-रूप-से,
स-हार-गंगा-धर[४] थी मनोरमा,
बनी अहो ! मंजुल चंद्र-चूड[५] सी
निरम्बरा भामिनि भूमिपाल की ।

(५३)

स-हास आयीं उस काल देवियाँ,
सुरेन्द्र से प्रेरित, स्वर्ग से चलीं,
हुयीं प्रविष्टा त्रिशला-वरांग में
अदृष्ट थीं कामुक भूमि-पाल से ।

---

[१]श्वेतवस्त्र वाली । [२]वस्त्ररहित । [३]शंकर । [४]श्वेतहार रूपी गंगा । [५]चूड़ा में चंद्रमा लगाये हुये, शंकर ।

(५४)

मुखाग्र में कीर्ति धँसी प्रमोद से
उरु-स्थिता हो धृति शोभने लगी
प्रवेश ह्री ने मुख-मार्ग से किया
निवास श्री ने स्मर-धाम में लिया ।

(५५)

महान शोभामयि वर्ण-मातृका[1]
ललाट में विष्ट हुई तुरंत ही ;
सु-कुक्षि के शोधन में महाशुभा
अनूप क्षीरोद-सुता[2] प्रवृत्त थी ।

(५६)

उसी घड़ी अच्युत-इन्द्र-जीव भी
प्रलंब उल्का-सम स्वर्ग से चला,
सभा सुधर्मा-सद देव-वृन्द ने
स-शब्द सानंद विराव[3] यों किया :—

(५७)

"पवित्रतापूरित आर्य्य-देश है,
विदेह का भू-तल भाग्यवान है,
जहाँ महा-दारुण-कर्म-जाल के
कृतान्त[4] तीर्थंकर जन्म ले रहे ।"

---

[1]सरस्वती । [2]लक्ष्मी । [3]घोष । [4]नाशनेवाले ।

(५८)

पुरूरवा, रोचक, दक्ष देवता,
प्रभास, आभास्वर, सोम, हंस[1] भी
समूढ़ हो तुम्बुर, नन्दि आदि ने
मुदा विदा दी जिनराज-जीव को ।

(५९)

स- नृत्य थीं सुन्दरि गीत-मोदिनी[2]
स-गान रंभादिक स्वर्ग-सुन्दरी,
जलेश, वारेश्वर, किन्नरेश भी
स-हर्ष, सानंद, स-मोद सर्व थे ।

(६०)

तरंगिता मंजु सुरापगा हुई,
समीर भी नंदन-कुंज से चला,
चला जभी जीव महेन्द्र-लोक से
त्रिलोक-संपूजित वर्द्धमान का ।

(६१)

जिनेन्द्र का जीव चला जभी, अहो !
ख-गोल में एक प्रकंप आगया,
भ-चक्र[3] का अस्थिर अक्ष[4] देखके
द्यु-लोक से ऋक्ष-निपात हो चला ।

---

[1]देवताओं के नाम । [2]किन्नरी । [3]तारामंडल । [4]धुरा ।

(६२)

प्रदीप्त उल्का जिस भाँति से गिरे
ख-गोल से भू-पर तीव्र वेग से,
यथैव ज्योतिर्झख[1] ऊर्ध्व-भाग से
समुद्र-द्वारा तल में निविष्ट हो—

(६३)

हिला तभी आसन कर्म-देव का,
मिला न आश्वासन पाप-लोक को;
खिला महामानव-धर्म कंज-सा,
जिनेन्द्र-आत्मा च्युत[2] भूमि में हुई ।

(६४)

निमेष[3] साधे, निज साँस बाँध के,
समस्त तारे लखते निपात थे;
सुरापगा-धार-समान जीव सो
गिरा सुधा-दीधिति[4]-शृंग पै जभी ।

(६५)

समा सका सो न निशाधिनाथ में
प्रभेद[5] दे, भू-तल ओर को बढ़ा,
गिरा शलाका-सम चंद्र-लोक से
हुआ तभी से शित[6] छिद्र इन्दु में ।

---

[1]प्रकाश करनेवाली मछली । [2]निपतित । [3]पलक । [4]चंद्रमा । [5]छिद्र । [6]काला ।

(६६)

मनोज्ञ-आषाढ़-सिताख्य पक्षकी
पवित्र षष्ठी तिथि वर्तमान थी;
उदात्त नक्षत्र कलंब[१] नाम का
उगा हुआ था निशि-अंतरिक्षमें।

(६७)

स-दर्प कादंबिनि[२] गर्जने लगी
स-हास सौदामिनि तर्जने लगी,
नृपाल-जाया रति-रंग-तृप्त हो
धरित्रि-सी वर्षण वर्जने लगी।

(६८)

विलोक सिद्धार्थ-पयोद-अंक में
प्रकंप-पूर्णा त्रिशला क्षण-प्रभा,
कलंब[३]-संपात हुआ बनान्त में
वगा वराकी नव-गर्भिता हुई।

(६९)

गिरी त्रिस्रोता[४] हर-मौलि-अंक से
हुयी तमोभूत अपेत[५]-बंध भी,
तडिल्लता चंचल हो उठी, अहो!
कुमोदिनी-युग्म प्रकंपमान थे।

---

[१]पूर्वाषाढ। [२]मेघ-माला। [३]जल। [४]गंगा। [५]मुक्त।

(७०)

सुरापगा-धार गिरी सुमेरु पै
तमिस्र[1] तारा-गण वर्षने लगे;
अकंप भृंगावलि हो गयी, अहो !
प्रशान्त शम्पा[2]-लतिका-विलास था।

(७१)

मनोज के संगर में मृगाक्षि के
उरोज भी पौरुष-पूर्ण हो गये,
प्रसून-वर्षा-सम पुष्प-चापकी
समंततः[3] वर्षित स्वेद-राशि थी।

(७२)

उरोज निर्लेप बने मृगाक्षि के
सु-केश भी बंधन-हीन हो गये;
मनोज्ञ कांची[4] अति निर्गुणा[5] हुई
नवार्जिका[6]-सी त्रिशला प्रतीत थी।

(७३)

नितान्त नीरंजन[7] नेत्र थे, तथा
विराग[8] से ओष्ठ हुये पवित्र थे;
महान निर्वेद[9] हुआ रतान्त में
प्रशान्त साध्वी-सम थी नृपांगना।

---

[1]अंधकार। [2]बिजली। [3]चारों ओर। [4]करधनी। [5]टूट गई, गुणहीन। [6]नवीन-दीक्षित अर्जिका। [7]अंजन-हीन। [8]रंगहीनता। [9]विराग।

(७४)

पयोद-वर्षा अब हीन हो गयी
प्रचंड सौदामिनि लीन हो गयी,
तुरन्त षष्ठी तिथि अंत हो गयी,
नरेश-जाया रति-रिक्त हो गयी।

(७५)

दिनान्त-संध्या जिस भाँति पुष्प को
लपेटती है निज-ध्वान्त[1]-अंक में;
तथैव निद्रा त्रिशला ललाम को
समेटती थी निज शान्त क्रोड[2] में

(७६)

विलोकिये तो, किस भाँति सुप्त है !
नरेन्द्र-पत्नी श्लथ[3] हो रतान्त में;
विलोचनों में सुख यों समा रहा
मिलिन्द ज्यों पंकज-कोष-बद्ध हो।

(७७)

प्रसून थे श्री-शयनांक[4] में पड़े
नितान्त ही म्लान कपोल के तले;
परन्तु शोभा-मयि भाल-वर्तिनी
सु-भाग्य लक्ष्मी अति ही स-चेत है।

---

[1]अंधकार। [2]गोद। [3]शिथिल। [4]पलंग।

(७८)

अहो ! अहो ! ! निद्रित भूप-भामिनी
नवीन-संजीवन-बद्ध-श्वास है;
अकंप व्यापा कि प्रसून-कुंज में
कि पूर्ण-निस्तब्ध[1] निसर्ग हो गया।

(७९)

"प्रशान्त सो, तू अति शान्त सो, प्रिये !
त्वदीय रक्षा करते सुपर्व[2] हैं।
समस्त सौभाग्य समुच्च स्वर्ग से
समृद्धि-वर्षा-रत हैं ललाट पै।

(८०)

"निशीथ ! तू कोमल हस्त से मुदा
विलासिनी को सहला[3] स-प्रेम ही;
सदैव तेरा अविकार नींद पै,
सदा फँसाता मन ध्वान्त-जाल में।

(८१)

"प्रशान्त सोती रह तू विलासिनी,
त्वदीय सौभाग्य-समीर प्रेम से
हिला रहा दिव्य भविष्य-वृक्ष है
अभी गिरेंगे फल स्वप्न-रूप में।

---

[1]निःशब्द। [2]देवता। [3]धीरे-धीरे हाथ फेरना।

(८२)

सु-स्वप्न वर्षा-ऋतु के, अहो ! अहो !
कहो प्रिया के जल-जात कर्ण में
"त्वदीय प्रेमी-नृप जागरूक[1] हैं
समीप तेरे अब पाहरू बने।"

(८३)

"अये कुरंगायत-लोचने ! शुभे !
त्रिलोक-सौंदर्य्य त्वदीय वित्त है,
गुणावली-शोभित अंग-अंग में
अनंग का, योषित ! अंतरंग तू।

(८४)

"प्रभा शरच्चन्द्र-मरीचि-तुल्य है,
विभा[2] शरत्कंज-समान नेत्र की;
शुभा शरद्-हंस-समा सु चाल है,
विशाल तेरी छबि वाम-लोचने !

(८५)

"अतीत-स्नेह-स्मृति-सी मनोरमा
पवित्र बाल-स्तुति-सी सु-कोमला[3],
सुमानसी तू नवनीत-पेलवा[4]
नतांगि ! कान्ते ! ललिते ! वरांगने !

---

[1]जागृत । [2]प्रकाश । [3]कोमल । [4]मुलायम ।

(८६)

"नरेश-भावोद्गत-नीर के लिए
प्रसुप्त तेरा मुख सिंधु-सा बना,
नरेन्द्र की जीवन-ह्लादिनी[1]-गता
प्रफुल्ल है वृत्ति प्रफुल्ल-कंज-सी।

(८७)

"समीर से सूक्ष्म विहंग-रक्ष है,
कृपीट[2] है सूक्ष्म विहंग-पक्ष से,
परन्तु सु-भ्रू अति भूरि-भाविनी
प्रसिद्ध है सूक्ष्म कृपीट-योनि[3] से।

(८८)

कहा गया है, प्रमदा-अपांग ने
गिरा दिया मानव को द्यु-लोक से,
परन्तु वामा-हृदयाब्ज ने, अहो!
सदा बनाया दिव[4]-तुल्य भूमि को।

(८९)

"प्रफुल्लता और पवित्रता, तथा
विशुद्धता, शाश्वत प्रेम-भावना,
कहे गये जो गुण स्वर्ग-लोक के
लखे गये वे ललना ललाम में।

---

[1]तडाग। [2]धुआँ। [3]अग्नि। [4]स्वर्ग।

(९०)

"सुलक्षणा तू निज चाल-ढाल में,
सुदेवता तू निज अंग-ढंग में,
उषा-समा अंबर[1] से ढकी हुई
प्रकास-सी अंबर[2] में विराजती।

(९१)

"यथैव तू सुन्दर, त्यों स-मिष्ट है,
यथैव है मिष्ट, तथैव कोमला;
यथैव तू कोमल, दिव्य भी तथा,
यथैव दिव्या उस भाँति देवता।

(९२)

"विरंचि की केवल तू न चातुरी,
वरंच है मानस-मूर्ति मामकी;
नतभ्रु! अर्धांगिनि तू बनी यथा
तथैव मेरा मृदु अर्द्ध-स्वप्न तू।"

(९३)

नरेश, यों ही कुछ देर रात्रि में
प्रसुप्त-वामांग निहारते रहे;
प्रगाढ़-तन्द्रा-वश मौलि-मध्यगा
अबंध-वेणी-छबि धारते[3] रहे।

---

[1]आकाश। [2]कपड़ा। [3]धारण करते।

(९४)

ललाट में आगत स्वेद-बुन्द भी
नरेश हाथों परिहारते रहे;
हटा-हटा आनन से अजस्र ही
मिलिन्द की भीड़ निवारते रहे।

(९५)

मृगांक-से आनन पै पड़ी हुई
पयोद-माला-सम केश-राशि को
सहेजते[१] भूपति बार-बार यों
स-जृंभ[२] शैथिल्य-समेत सो गये।

[द्रुतविलंबित]

(९६)

मनुज जागृति में रत-धर्म है,
विगत-कर्म तथैव सुषुप्ति[३] में;
यदि कहीं सुख-स्वप्न प्रतीत हों
वह भविष्य-विधान[४]-समर्थ है।

---

[१]सम्हालते। [२]जम्हाई लेकर। [३]निद्रा। [४]निर्माण।

तीसरा सर्ग

[वंशस्थ]

(१)

निशीथ[1] था, अंबर ज्योति-हीन था,
तथैव, षष्ठी विधु अस्तमान था,
इसीलिए तारक-वृन्द में तभी
प्रदीप्ति-आभा अधिकाधिका लसी।

(२)

गिरा, अहो ! अंजन अंतरिक्ष से
हुई तमोलिप्त सभी वसुंधरा;
अकंप हो पश्चिम-दिक्कलत्र[2] के
लसे मुदा संपुट-कंज कर्ण में।

(३)

निशीथिनी लासिक[3]-योषिता-समा
समागता अंबर-रंगभूमि में
मिलिन्द-जाया-मिष गान गा उठी
कुमोदिनी के सुम[4]-कुंज में, अहो !

---

[1]मध्य रात्रि का समय। [2]दिशा-रूपी स्त्री। [3]नट। [4]पुष्प।

(४)

विकीर्ण[१] - पुष्पांजलि - तारकावली,
तमोमयी - यावनिका[२]-तटस्थिता,
विराजती थी उडु-मंडलामुखी
विलासिनी द्रुपद[३]-लासिनीनिशा।

(५)

तमिस्र से श्यामल शैल हो गये,
अरण्य के पादप नील हो गये,
हुईं दिशाएँ शित[४] मेदिनी हुई
अभेद भू-अंबर-मध्य हो रहा।

(६)

निशीथ में लोचन व्यर्थ-से लसे,
यथा हुई संपति व्यर्थ सूम की,
हुये महापीड़ित जीव भूमि के
विषण्ण[५] हो ज्यों कु-नरेश की प्रजा।

(७)

तमिस्र में पंकज क्षीण हो चुके,
यथैव विद्या व्यसनी मनुष्य की;
मिलिन्द भी कातर दैन्य-युक्त थे,
गुणी यथा दुःखित हों विदेश में।

---

[१]बिखरे हुये। [२]पर्दा। [३]एक प्रकार का नृत्य। [४]काली।

(८)

कि श्याम-हस्ती-[1]अजिनावृता मही,
कि एण[2]-नाभी-रस-लिंपिता दिशा,
कि व्याप्त काली मसि[3] अंतरिक्ष में,
कि भूमि आवेष्टित है तमिस्र से ।

(९)

पयोद सारे गत हो गये, तथा
समीर की भी लहरी समाप्त थीं;
रही अपेक्षा[4] इनकी न रात को
तमिस्र सर्वत्र विराजमान था ।

(१०)

विषाद-माता-सम तामसी निशा
मही-सुता पै झुक ही पड़ी, अहो !
प्रकीर्ण[5] काले कच अंधकार के
हुये, समावेष्टन भूमि का किये ।

(११)

प्रकाश तारे करते न तेज का
वरंच थे वे तम ही दिखा रहे;
द्यु-लोक की भी द्युति क्षीण हो चली;
त्रिलोक-भक्षी घन अंधकार था ।

---

[1]त्वचा । [2]मृग । [3]रोशनाई । [4]आवश्यकता । [5]फैले हुये ।

(१२)

निशीथ-शोभा अवलोकनीय थी
लसी नभो-मंडित तारकावली,
शनैः शनैः पश्चिम दिग्विभाग में
तमिस्र-आत्मा-गति मंद हो चली ।

(१३)

निशीथ था पूरित अंधकार से
कि पूर्ण था दिव्य प्रदीप्ति से तदा
समागता जो अनजान देश से;
यथैव अव्यक्त[1] तथैव व्यक्त[2] भी ।

(१४)

तमिस्र-पूर्णा उस मध्य रात्रि में
अमन्द एकान्त-प्रभा-प्रभास[3] में
पढ़े गये पाठ द्वितीय लोक के
भविष्य-गर्भ-स्थित योगिराज से ।

(१५)

नितान्त-सुप्ता-त्रिशला-मन-स्थिता
निशीथिनी की महिमा महान थी,
हुई समाकर्षित रात्रि-राग[4] से
तुरन्त ही जीवन-सिद्धि स्वप्न में ।

---

[1]छिपे हुये । [2]खुले हुये । [3]शोभा । [4]प्रेम ।

(१६)

"त्वदीय निद्रा, त्रिशले ! सुखान्त है,
कि स्वप्न की संस्थिति रंग-मंच है;
जभी उठेगा पट मातृ-भाव का
सु-पात्र[1] होगा सुत विश्व-नाट्य का।"

(१७)

किया जभी निस्वन[2] ऋक्ष-वृन्द ने
निशीथ के बालक, स्वप्न नाम के,
प्रबुद्ध होके त्रिशला-हृदब्ज में
मिलिन्द-से गुंजन-शील हो गये।

(१८)

सुंषुप्ति के पूर्ण-प्रशान्त सिंधु में
तरी[3] चली स्वप्न-मयी सुहावनी;
सु-भाग्य तारा ध्रुव-सा अकंप था
सु-मंत्र-आकीलित-ध्वान्त-व्योम में।

(१९)

प्रशान्त निद्रामय देव-लोक के
सु-स्वप्न कैसे त्रिशले ! सुदृश्य हैं।
परन्तु तेरे अतिरिक्त भूप भी
न हैं अभी दर्शक रंग-मंच के।

---

[1]नायक। [2]शब्द। [3]नाव।

(२०)

कुस्वप्न-दुस्स्वप्न समस्त विश्वके
सजे हुये हैं मन-पण्य[१]-वीथि में,
प्रभात-घंटा अब तीन का बजा,
किन्हें करेगी क्रय, भूप-योषिते !

(२१)

प्रभात के स्वप्न प्रसिद्ध हेतु हैं,
समर्थ भावी-क्रम के विकास में;
कभी-कभी स्वप्निल जीव जागता
स्व-भाग्य का आगम[२] देखते हुये ।

(२२)

प्रभात में चित्रण आत्म-रूप का
निमीलिताक्षी[३] त्रिशला बना रही,
पली हुयी प्रांगण-मध्य सारिका
सुना रही थी सुख-स्वप्न-गीतिका ।

(२३)

उड़े-उड़े, पंजर छोड़, सारिके !
प्रबोध[४]-शाली निज स्वप्नपक्ष[५] पै;
कहे कहानी उस अंतरिक्ष की
चली कभी थी जिस दिव्यलोक से ।

---

[१]बाज़ार । [२]आगमन । [३](निद्रा के पश्चात आलस्य से) आंखे
हुये । [४]जागृत । [५]पंख ।

(२४)

जिन्हें लखा जागृति में न था कभी
विलोक ले वे सुख-स्वप्न सुप्ति में;
प्रसन्न है पुत्र त्वदीय गर्भ में,
स-हर्ष देता नव प्रेरणा तुझे।

(२५)

प्रशान्त-आत्मा-विधु के समंततः
प्रसुप्ति के वारिद हैं घिरे हुये;
प्रदीप्ति-छाया-मय रंग-रंग के
महेन्द्र[1] के चाप-समान स्वप्न हैं।

(२६)

समाप्त-प्राया रजनी चली जभी,
प्रदीप-शोभा जलने लगी जभी,
उड़े तभी षोडश स्वप्न भृंग-से
नरेन्द्र-जाया-हृदयारविन्द से।

(२७)

नितान्त-छाया-मय-भावि[2]-कुंज में
कुरंग के शावक स्वप्न खेलते;
कुरंग-नेत्री बन कंज-लोचना
विलोकती क्रीडन आत्म-भाव का।

---

[1]इन्द्र। [2]होनेवाले।

(२८)

अतः सुनो वे सब स्वप्न जो लखे
नरेश-जाया त्रिशला ललाम ने
विलोक पाये न किसी कलत्र ने
नरेन्द्र की हो, अथवा सुरेन्द्र की ।

(२९)

लखा गया; एक अगाध सिंधु है,
गिरीन्द्र-मूलस्थ[१] अरण्य-कूल में,
प्रशान्त आवर्त-विहीन नीर से
अगाध गांभीर्य्य-समेत व्याप्त है ।

(३०)

तुरन्त ही स्थैर्य्य[२]-समेत नीर में
इतस्ततः बुद्बुद बोलने लगे,
उठा जलस्तंभ[३] पयोधि-अंक से
नवांगना-कंचुक-युक्त-वक्ष-सा ।

(३१)

पुनश्च कीलाल[४] विदार शीघ्र ही
उठा अहो ! श्वेत गजेन्द्र सिंधु से,
महेन्द्र-मातंग[५]-समान विक्रमी
दहाड़ता, शुंड प्रहारता हुआ ।

---

[१]जड़ । [२]स्थिरता । [३]जलका खंभा । [४]पानी । [५]ऐरावत ।

(३२)

पुनः पटाक्षेप हुआ कि शीघ्र ही
वही महासागर भासने लगा।
अखंड उच्छ्वास-भरा समीर था,
प्रचंड निर्घोष[१]-भरा कमंध[२] था।

(३३)

समुच्च थी उन्थित-वीचि भित्ति-सी,
अजस्र आलोडित ह्वैल-कृत्ति[३]-सी,
समीर-संचालित मेघ-यूथ-सी,
विभीत मानों बहु-हस्ति-सैन्य-सी।

(३४)

पुनश्च रत्नाकर-मध्य रत्न का
समूह उत्तुंग हुआ सु-मेरु-सा
प्रदीप्त आभा नव सप्त-रंग की
हुई समुत्सारित[४]-सी दिगन्त में।

(३५)

उसी महा उज्वल रत्न-राशि पै
विशाल सिंहासन भासने लगा,
सपर्ण[५] की आकृति के अनेकशः
लगे हुये सुन्दर हस्त-पाद थे।

---

[१]शब्द। [२]जल। [३]ह्वैलकी त्वचा। [४]फैली। [५]गरुड़।

(३६)

पुनश्च सिंहासन-मध्य राजती
सु-शोभिता क्षीरधि-कन्यका लसी
अनेक-वर्णाभरणा, मनोरमा,
सुपर्व-सेव्या, वसु-धाम[1] इन्दिरा।

(३७)

किरीट-संयुक्त ललाट की प्रभा,
कपोल की कुंडल-मंडिता विभा,
मनोज्ञ केयूर[2] लसे सु-बाहु में
स-कंज शोभा कर की अनूप थी।

(३८)

प्रसन्न था आनन विश्व-मातृ का,
प्रफुल्ल कंजायत नेत्र-युग्म थे,
प्रकीर्ण होती जिनसे सुखावहा[3]
प्रदीप्ति त्रैलोक्य-जनानुमोदिनी।

(३९)

लखा गया जो पहले गजेन्द्र था,
हुआ द्विधा; दो गज दीखने लगे;
द्वि-पार्श्व-वर्ती बन विश्व-मातृ के
घटस्थ पीयूष[4] उडेलने लगे।

---

[1]धन। [2]बाजूबंद। [3]सुखदायिनी। [4]अमृत या दुग्ध

(४०)

द्विशुंड से वे गज-युग्म स्नेह से
हुये सुधा-वर्षण में निमग्न यों—
अजस्र धारा चतुरंगिणी गिरी
समुद्रजा[1] के अमिताभ शीर्ष पै।

(४१)

पुनश्च देखा गगनस्थ चंद्रमा
अशेष राका-निशि-नाथ-तुल्य ही,
प्रकाशती सर्व-दिशा समुज्वला
अनन्त-तारागण-मंडिता-प्रभा।

(४२)

मनोज्ञ क्रीड़ा-सर था कि लक्ष्मि का,
कि दिग्वधू-दर्पण ज्योति-धाम था,
मनोज का मंजुल आतपत्र[2] था,
कि देव-कासार[3]-सहस्र-पत्र था।

(४३)

तुरन्त हो उत्थित भूमि-अंक से
फणीन्द्र सो उच्च निवेश-साल सा;
अनेक थे शीर्ष सुमेरु-शृंग से
अनन्त वातायन[4]-युक्त धाम था।

---

[1]लक्ष्मी। [2]छतरी। [3]तडाग। [4]खिड़की।

(४४)

शशांक के और फणीन्द्र-धाम के
सु-मध्य में शोभित दो विमान थे,
कपोत के युग्म-समान दूर से,
समीप से दो गृह-तुल्य जो उड़े।

(४५)

मृगेन्द्र कूदा पहले विमान से
द्वितीय से भी वृष[1] भूमि पै गिरा
चला बलीवर्द[2] स-दूर्व भूमि को
स-शब्द शैलाट[3] अरण्य को गया।

(४६)

पुनः गिरे दो स्रग[4] यान-युग्म से
अलात[5]-माला-सम चक्र-युक्त हो,
गिरे जभी भू पर शब्द-हीन वे
दिखा पड़े दो घट माल्यवान[6] थे।

(४७)

उसी घड़ी सूर्य्य उदीयमान हो
मनोज्ञ प्राची दिशि को प्रकाशता
दिखा पड़ा चंक्रम-युक्त सामने
समस्त भू को करता प्रदीप्त था।

---

[1]बैल। [2]बैल। [3]सिंह। [4]माला। [5]चरखी। [6]माला-युक्त।

(४८)

मरीचियाँ उत्थित सूर्य्य-देव की
बना रही थीं अनुरंजिता[1] धरा,
समस्त कासार, सरोज-पुंज से
ढके हुये पीत पराग से, लसे ।

(४९)

महान आश्चर्य्य हुआ उन्हें जभी
प्रफुल्ल देखे सर में सरोज, जो
निशा तथा वासर में पृथक्-पृथक्
प्रकाशते हैं, पर संग-संग हैं ।

(५०)

पुनः वही श्वेत गजेन्द्र पूर्व में
लखा गया जो त्रिशला ललाम से
सरोज-सा, भृंग-समान व्योम में,
उठा बृहत्काय, बना गिरीन्द्र-सा ।

(५१)

पुनश्च हो सो लघु अंतरिक्ष में
मिलिन्द-सा आ त्रिशला-समीप ही
नृपेन्द्र-जाया-मुख-कंज में धँसा
यथैव भावी[2]-सुत-सूचना शुभा ।

---

[1]प्रसन्न । [2]होनेवाले ।

(५२)

तुरन्त बन्दी-जन गान गा उठे,
मृदंग बीणा बहु बाजने बजे
समेत-आनद्ध[1]-सुषीर[2] झल्लरी
बजीं, जभी पुण्य-प्रभात आ गया ।

(५३)

"उठो, उठो, देवि प्रभात हो गया
करो सभी सत्वर योग्य कार्य, वे
समृद्धि की जो तति[3] वंश में करें
अशेष कल्याण त्रिलोक में भरें ।

[द्रुतविलंबित]

(५४)

"जिस प्रकार, शुभे ! दिशि पूर्व के
उदर-मध्य दिनेश छिपा हुआ,
निहित है सुत यों तव कुक्षि[4] में
सकल लोक-प्रकाशिनि ज्योति से ।

(५५)

"अपगता[5] भव-यामिनि हो चली,
उदय है शुभ ज्ञान-प्रकाश का;
अलस-अंबर त्याग उठो, उठो ,
जग गया जग में जन धन्य सो ।"

---

[1] ताल देनेवाले बाजे, तबला, मृदंग आदि । [2] (सुषीर) मुंहसे बजनेवाले बाजे । [3] प्रसार । [4] कोख, उदर । [5] व्यतीत ।

चौथा सर्ग

[वंशस्थ]

(१)

प्रभात आया, तम नष्ट हो चला,
त्विषा[1] लगी पूर्व दिशा प्रकाशने।
समीर डोला, सुमनावली हिली
प्रकाश फैला दश-दिग्विभाग में।

(२)

प्रफुल्लता में सुम-सद्यता सनी
इतस्ततः खेचर[2] कूजने लगे,
महान रम्या कलविंग[3]-मंडली
निवेश पै कूजन में प्रसक्त थी।

(३)

विहंग ऐसे बहु मोद में सने
प्रभात में पूर्ण प्रसन्न ज्यों हुये,
समीर भी अंबर[4] की मलीनता
बुहारता था जल सींच ओस का।

---

[1]प्रकाश। [2]पक्षी। [3]गौरैय्या। [4]आकाश।

(४)

प्रभात निःश्वास सुगंध-युक्त है,
लसा हुआ फुल्ल-सरोज-वक्त्र[१] है,
यथा तिरस्कार-समेत मेघ की
हँसी उड़ाता मद-मत्त वायु हो।

(५)

उषा लसी थी अति मोद-दायिनी
गुलाब की प्रस्फुटिता-कली-समा,
निशीथ-अंधतम[२]-कोप से बढ़ी
चढ़ी मनोज्ञा प्रति-पत्र फुल्लता।

(६)

जगे, जगे, तू तितली प्रबुद्ध हो,
उड़े, उड़े, मार्ग प्रसून जोहते;
सुमेरु से स्वर्णिम-रश्मि सूर्य की
मरीचियाँ हैं बहु रंग दे रहीं।

(७)

प्रलंब-काया रवि-रश्मियाँ चलीं
कि प्राच्य-तूणीर-विनिःसृता प्रभा,
चला त्रियामा[३]-तम-सैन्य शीघ्र ही
जगी धरा की विविधा अगावली[४]।

---

[१]मुख। [२]घोर अंधकार। [३]रात्रि। [४]वृक्ष-समूह।

(८)

विलोकिये पादप-शीर्ष से उठा
दिनेश ले प्राण प्रकाश-पुंज के
विनाशता स्तोम[1] तमिस्र, साथ ही
प्रकाशता था सकला वसुंधरा ।

(९)

नृपाल-वातायन-मध्य झाँकता
कि मंत्र-शास्त्रज्ञ-समान प्रात यों
सुषुप्ति-संमोहन[2] था भगा रहा
समीर-फूत्कार-समान शब्द से ।

(१०)

निवेश-छज्जों पर जा मयूरियाँ,
स-तार[3]-केका-रव छेड़ने लगीं
प्रसून की पंखड़ियाँ इतस्ततः
गिरा रही थीं बहु बुन्द ओस के ।

(११)

न सूर्य्य आया, फिर भी दिगंत के
पदार्थ थे रंजित सप्त रंग के;
अदृष्ट ही स्पर्श प्रभाव से, लखो,
हुयी समस्ता अनुरंजिता धरा ।

---

[1]घना । [2]बेहोशी । [3]उच्च-शब्द-युक्त ।

(१२)

उषा समायी प्रति गेह में जभी
समुच्च था निःस्वन ताम्रचूड[1] का
प्रभात के शीतल सद्य[2] श्वास से
बने सभी मानव जागरूक थे।

(१३)

अनूप प्रत्यूष-विलोचनान्त से
कपोल पै लज्जित पुष्प के पड़ों
अनेक बूँदें हृदयानुमोदिनी
बड़े-बड़े मौक्तिक पारसीक[3] ज्यों।

(१४)

विलोकिये भूति[4] प्रभात-कालकी
उदीयमाना छवि सूर्य्य-देव की,
कि प्रात की दृष्टि पड़ी सुमेरु पै
महेश-नेत्रानल या कि मार पै।

(१५)

प्रभात के कोमल कंप-युक्त-से
पड़े गुलाबी पद पूर्व-शीर्ष पै,
कि अंशु के फाल[5] चले महीध्र पै
दिनेश यों मौक्तिक-बीज बो रहा।

---

[1]मुर्गा। नाजा[2]। [3]फारस देश के। [4]शोभा। [5]जमीन जोतने का लौह।

(१६)

प्रभात, मानों रुचि-पूर्ण भाव से,
नितान्त संज्ञा-मय चारु चाव से,
बुहारता लेकर अंशु-[1]मार्जनी
[2]बिमोहिता तंद्रित जीव-लोक की।

(१७)

किया सदा स्वागत फुल्ल कंजने
प्रभात का जागृत नेत्र से मुदा
परन्तु राज्ञी—त्रिशला ललाम—की
प्रबुद्ध नेत्राकृति वे न पा सके।

(१८)

पुरा सुरों ने बहु खोज की, तथा
सुवर्ण पाया कुछ हेम-कूट पै,
लखो, निहारो, इस प्रात-काल को—
मुखाब्ज चामीकर[3] से भरा हुआ।

(१९)

प्रभात पूर्वीय-हिमाद्रि-शृंग पै
प्रकाशता है हिम की कणावली ;
प्रबुद्ध मैना-मिष गान-युक्त हो
जगा रहा कानन की खगावली।

---

[1]बुहारी। [2]बेहोशी। [3]स्वर्ण।

(२०)

प्रभात ने स्वर्णिम द्वार खोल के
अहो! बिदा ली नव सूर्य्य-रश्मि से,
किसी युवा ने जिस भाँति प्रात में
तजी स्थली हो युवती-निवेश की।

(२१)

त्रिलोक-संपूजित सूर्य्य पूर्व के
विशाल वातायन से उगा नहीं,
कि रात्रि भागी सँग श्याम चैल[1] के
प्रभात आ पादप पै खड़ा हुआ।

(२२)

निशीथ के दीपक ज्योति-हीन हैं,
प्रभात के मौक्तिक शैत्य-युक्त हैं,
पतंग हो भास्वर[2] भूरि भ्राजता,
पता नहीं है खग[3]-राशि-चक्र का।

(२३)

प्रभात संबोधित हो विहंग से,
जगा रहा है सब जीव-जन्तु यों—
कि यात-[4]यामा निशि भी रुकी न, जो
प्रकाशती स्वप्निल सृष्टि की प्रभा।

---

[1]कपड़ा। [2]प्रकाशमान। [3]नक्षत्र। [4]गत-प्राया।

(२४)

निशा-मुषे[१] ! स्वागत है उषे ! तुझे
सुदेवते ! सुन्दरि ! लेश[२]-लज्जिते !
त्वदीय जो स्वर्णिम आशुगावली[३]
लगी अँगों में दिन के स्फुलिंग-सी ।

(२५)

त्वदीय जो अंशुक[४] अंशु से बना
उषे ! समाच्छादित अर्ध-व्योम में,
हुआ, कि मोती उससे गिरे, पड़े,
झड़े अँगों पै बन ओस-बुन्द ही ।

(२६)

सुगन्ध से युक्त समीर प्रात का
अगों-नगों के स्थल भेंटता हुआ,
निवेश-वातायन से निविष्ट हो,
सु-राज्ञि-पर्य्यंक[५]-समीप है खड़ा ।

(२७)

स-लज्ज-गंड[६]-स्थल प्रात नम्र हो
समीप आके त्रिशला ललाम के,
उड़ेलता मौक्तिक ओस-बुन्द के,
बिखेरता म्लान प्रसून सेज के ।

---

[१]रात्रि को चुरानेवाली । [२]किंचित् । [३]रश्मियाँ । [४]रेशमी कपड़ा । [५]पलंग । [६]कपोल ।

(२८)

प्रभात-वायु-प्लव[1] से उसी घड़ी
सुषुप्ति साम्राज्ञि-अपांग[2] से उड़ी
उड़ा यथा सिंधु-पतत्रि[3] सिंधु को
उड़ा यथा ग्राम समूढ़ हास में।

(२९)

उषे! निशा से दिन खींच ला, प्रिये!
मुदा जगा ज्योति अपूर्व पूर्व में,
उगी पुरा जो भव-[4]अंधकार से
स्व-जन्म आशा जब ले बनी शुभा।

(३०)

लिये महाराज्ञि-कपोल-पांडुता
उषे! हुयी आज उदीयमान तू;
जिनेंद्र आये त्रिशला-सुकुक्षि में,
दिनेन्द्र तेरे शुभ गर्भ में बसे।

(३१)

उरोज का कुंकुम शेष-प्राय था,
मनोज का विभ्रम शेष-प्राय था,
विराम-शेषा त्रिशला ललाम का
निशा-प्रभावांजन शेष-प्राय था।

---

[1]झोंका। [2]पलक। [3]पक्षी। [4]संसार।

(३२)

चकोर के लोचन चंद्रकान्त-से
स-बुन्द थे सिक्त निशान्त-ओस से,
परन्तु चित्तानल कोक[1]-लोक का
प्रतप्त होगा अब सूर्य्य-कान्त-सा।

(३३)

दिनेश आता अब रश्मि-बिंब से
प्रमोद देता त्रिशला ललाम को,
गिरा रहा है पर कर्ण-युग्म से
विभंग-लक्ष्मी[2] जल-जात आग ही।

(३४)

दिनेश-सप्ताश्व विहाय मंदुरा[3]
क्षुधार्त दूर्वा-दल खोजने लगे;
उठो, उठो, देवि न रात्रि शेष है
स-तार होता रव ताम्र-चूड[4] का।

(३५)

सुरम्य प्राची सित-पिंग हो गयी,
यथा लसा पारद-गर्भ हेम हो;
समस्त नक्षत्र विलीयमान हैं,
नितान्त-उद्योग-विहीन भूप-से।

---

[1]चकवा-चकई। [2]शोभा-हीन। [3]अस्तबल। [4]मुर्गा।

(३६)

प्रदीप भी संप्रति ज्योति-हीन हैं,
यथा कुटुम्बाधिप रिक्त द्रव्य-से;
निशान्त में मौक्तिक शैत्य-युक्त हैं,
नृपाल के भृत्य [1]गनाधिकार-से।

(३७)

लतावली भी अब पाण्डु[2] हो रही,
प्ररूढ़-गर्भा ललना-ललाम-सी,
प्रफुल्ल हैं कुंद महान मोद में
नरेश-द्वारा-कृत-मान-भृत्य-से।

(३८)

प्रभात में कोकिल गान-युक्त हैं,
नृपाल के संमुख हों कवीन्द्र ज्यों,
निशा हुई है इस भाँति निष्प्रभा,
समृद्धि जैसे मति-हीन दुष्ट की।

(३९)

प्रसन्न है संप्रति अंतरिक्ष भी,
प्रपन्न[3] ज्यों स्थानक-वासि साधु हो;
त्रिलोक से अंध-तमिस्र यों हटा,
मुनीन्द्र के मानस से अघौघ[4] ज्यों।

---

[1]अधिकार-हीन। [2]पीला। [3]विनीत। [4]पाप-समूह।

[द्रुतविलंवित]

(४०)

इस प्रकार प्रभात-प्रभा-मयी
अवनि-अंबर की छबि हो गयी,
सपदि[1] पूर्ण हुई दिन-नाथ की
सकल-लोक-प्रकाशन-प्रक्रिया ।

[वंशस्थ]

(४१)

उसी घड़ी श्री त्रिशला-निवेश के
समक्ष ही आकर एक निस्पृही
अनूप-नामा कवि छांदसाग्रणी[2]
भुजा उठा गायन-युक्त यों हुआ:-

(४२)

"सदा इसी भाँति जिनेन्द्र-सूर्य्य के
स-तेज होते क्षिति-अंतरिक्ष में,
विनष्ट होते खलु[3] रिंकणादि[4] हैं,
अशिष्ट मिथ्या-मत के समान ही ।

---

[1]शीघ्र । [2]कविश्रेष्ठ ।
[3]निश्चय ही । [4]जुगनू ।

(४३)

"सदैव अर्हंत-स्वरूप अर्क के
प्रकाश होते भव-व्योम-अंक में,
महा कुलिंगी[1] खल-तस्करादि भी
प्रतीत होते द्रुत भागते हुये।

(४४)

"तथैव साम्राज्ञि ! जिनेन्द्र-अर्य्यमा[2]
स्वकीय संबोधन-अंशु से मुदा
समस्त-प्राणी-भव के विनाश को
स्व-जन्म लेते नव देवि ! कुक्षि में।

(४५)

"तथैव तीर्थंकर शुद्ध ज्ञान की
गभस्तियों[3] से कर धर्म-मार्ग को
प्रशस्त, पाते पद अंतरिक्ष में
सु-लोचने ! लोचन लोक-लोक के।

(४६)

"तथैव तीर्थंकर वाक्य-अंशु से
सदा खिलाते मन-कंज साधु के;
तथैव तीर्थेश्वर शब्द-रश्मि से
विनाशते काम-कुमोद[4] संत के।

---

[1]कुलक्षणी। [2]सूर्य्य। [3]किरणें। [4]दुःख या कुमुद।

(४७)

"अतः उठो, हे त्रिशले ! जगो-जगो,
विलासिनी-मंडल-मान-मर्दिनी !
प्रबुद्ध हो, संप्रति शुद्ध हो, शुभे !
कुरंग-नेत्रे ! ललिते ! मनोरमे !

(४८)

"प्रभात में श्रावक-श्राविका सभी
अजस्र-सामायिक-दत्त-चित्त हो,
प्रसक्त हो कर्म-अरण्य-होम[1] में,
सदा उठाते ध्रुव धर्म-धूम हैं।

(४९)

"अनेक संपूजित-पंच-देवता
प्रवृत्त होते व्रत-जाप में मुदा;
परन्तु जो चित्त-निरोध-लग्न, वे
निलीन होते सुख-सिंधु ध्यान में।

(५०)

"तथैव जो धीर विमुक्ति-प्राप्ति के
लिए, न लाते ममता शरीर पै,
प्रवृत्त व्युत्सर्ग[2]-तपादि में वही
विनाशते कर्म, विमोक्ष साधते।

[1]जलाना। [2]त्याग।

(५१)

"अतः उठो, हे त्रिशले ! सुलोचने !
नरेन्द्र-जाये ! पति-भक्ति-तत्परे !
प्रसक्त हों सत्वर धर्म-ध्यान में
पवित्र आदर्श-चरित्र आप हैं।"

(५२)

मनोरमा श्रोत्र[1]-सुखावहा तभी
हुई महा-मंगल-गीति; कामिनी
प्रबुद्ध होके, शयनांक छोड़के
उठी, लगी नित्य-निमित्त-कार्य्य में।

(५३)

विशाल-नेत्रा हरिणी-समान सो,
सुधांशु-आस्या रजनी-समान सो,
उठी चली यों त्रिशला मदालसा
सु-मंद-पादा करिणी-समान सो।

(५४)

समेत-कल्याणक नित्य की क्रिया
समाप्त सामायिक आदि ज्यों हुये,
निवृत्त हो सत्वर प्रातराश[2] से
गयी सभा-मध्य सखी-समेत सो।

---

[1]कान। [2]प्रभात का भोजन।

(५५)

स-हर्ष वामासन[1] भूप ने दिया
प्रसन्न-आस्या सुमुखी सु-भीरु को।
नृपेन्द्र-जाया कहने लगी तभी
लखे गये जो सुख-स्वप्न रात्रि में:—

(५६)

"सुनो प्रभो! ब्रह्म-मुहूर्त में मुदा
हुये मुझे षोडश स्वप्न आज ही;
न जान पाती उनका प्रभाव मैं,
अतीव आश्चर्य्य, महान खेद है।"

(५७)

तदा सुनाये सब स्वप्न देवि ने
सभासदों ने, धरणीश ने सुने।
परन्तु साश्चर्य्य समस्त मंडली
रहस्य के भेदन[2] में अशक्त थी।

(५८)

वहीं कहीं एक मुनीन्द्र संयमी
अदृष्ट आये उपदेश के लिए,
स-तर्क हो स्वप्न-कथा सुनी तथा
स-हर्ष बोले अति शान्त भाव से।

---

[1]बाईं ओर का आसन। [2]उद्घाटन।

(५९)

"नरेश, ये षोडश स्वप्न राज्ञि के
महान-गंभीर-महत्त्व-पूर्ण हैं,
अतः सुनो होकर सावधान, मैं
रहस्य-उद्भेदन-यत्न शील हूँ।

(६०)

"सुनो, महाराज्ञि-पवित्र-कुक्षि से
जिनेन्द्र तीर्थंकर जन्म ले रहे,
सुगंध-संयुक्त-शरीरवान व
प्रसार देंगे जिन-धर्म की सुधा।

(६१)

"स्व-धर्म के स्पंदन-हेतु सारथी
प्ररोह[1] देंगे मुनि-साधु-वृन्द को,
प्रसिद्ध कर्मान्तक हो त्रिलोक में
प्रवृत्त होंगे मद-मोह-नाश में।

(६२)

"सदैव कल्याणकरी विवृत्ति[2] से
प्रचारकारी बन ज्ञान-ध्यान के,
अवाप्त होंगी महि-क्षेम-कारिणी
प्रसिद्ध नौ केवल-लब्धियाँ उन्हें।

---

[1]उन्नति। [2]आचरण।

(६३)

"सु-देह होगी शुभ-लक्षणान्विता,
सु-कीर्ति होगी विधु-सी समुज्वला,
सु-वह्नि[1] से सम्यक-दर्शनादि की
प्रदाह देंगे वह कर्म-काष्ठ को।

(६४)

"महा-महाराज-पदाधिकार से
बना वशीभूत नरेश-चक्र को,
सदा सुखी जीवन दे उसे सुधी
समृद्धि देंगे अपवर्ग[2] की मुदा।

(६५)

"नरेन्द्र ! अभ्यागत देव हो चुके,
जिनेन्द्र स्वर्गागत राज्ञि ! हो चुके,
विदेह में हर्षित राग-रंग हों
निवेश में मंजु बधाइयाँ बजें।"

(६६)

नृपाल बोले, "ध्वनि आपकी, मुने !
लगी मुझे डिंडिम[3]-घोष-सी, अहो !
कि जो भरी कोटिक धन्यवाद से
समस्त-आगामि-मनुष्य-लोक के।"

---

[1]अग्नि। [2]मुक्ति। [3]नगाड़ा।

(६७)

सहर्ष बोली त्रिशला सु-वाक्य यों—
"मुने ! मुझे हो तुम इन्द्र-चाप सो,
दिनान्त-आभा-अनुराग-रक्त जो,
निशान्त-शोभा-भव-भाग्य-सक्त जो ।"

(६८)

तुरन्त अंतर्हित हो गये सुधी,
मुनीन्द्र-माला महि-अंक में गिरी
समस्त भू को चरमाभि¹धान जो,
मनुष्यता को अति दिव्य दान था ।

(६९)

सभासदों ने सब एक साथ ही
कहा "महा वासर धन्य आज का,
पवित्र है, और महत्त्व-पूर्ण है
विचित्र है, संस्मरणीय है, प्रभो !

(७०)

समस्त भू के इतिहास में कभी
न वृत्त ऐसा हमसे सुना गया;
कि उच्च होगी इतनी मनुष्यता,
कि धन्य होगी इस भाँति से धरा !"

---

¹सर्वश्रेष्ठ नामवाला ।

(७१)

सभासदों की कर पुष्टि व्योम में
सु-पर्व आनंद-विभोर हो उठे;
प्रसक्त[1] होने सब देवता लगे
सु-गर्भ-कल्याणक-उत्सवादि में।

(७२)

सुपर्व[2] ज्योतिर्विद सिंह-नाद से,
अमर्त्य[2] तार-स्वर शंखनाद से,
अस्वप्न[2] विद्याधर शृंग-नाद से
महा-समारोह-प्रमोद में लगे।

(७३)

हुई स-गर्भा त्रिशला विमुग्ध थी
पतिव्रता - मंडल - चंद्र - चूलिका,
महान मातृत्व-ममत्व-उत्स[3]-सा
छिपा नहीं मानस में नतभ्रु[4] के।

(७४)

फली सदिच्छा सुत-जन्म की तभी
चली सभा से त्रिशला स्व-गेह को।
स-गान डोलीं सँग दिक्कुमारियाँ
बनीं सखी सुन्दरि छद्म[5]-वेषिणी।

---

[1]संलग्न। [2]देवता। [3]सोता। [4]स्त्री। [5]गुप्तवेषवाली।

[द्रुतविलंबित]

(७५)

उमड़ आनँद के रस से उठा
हृदय विस्तृत-व्यास शराव[1]-सा,
न जिसमें अभितृप्ति-समा सकी,
सरित दुग्धवती बहने लगी।

---

[1]कटोरा।

पाँचवाँ सर्ग

[वंशस्थ]

(१)

हुआ अगस्त्योदय अंतरिक्ष में
तडाग-कालुष्य मिटा शनैः शनैः,
रतान्तिका की जघन-स्थली-समा
खुली लसी सुन्दर ह्लादिनी[1]-तटी ।

(२)

शशांक के उज्वल रश्मि-वारि से
महान-सिक्ता शरदंगना[2], लखो,
प्रसन्न हो अंबर आज धो रही
पयोद-माला-मल-युक्त था कि जो ।

(३)

तडाग नीलाम्बर के तले मुदा
शशांक[3]-से हंस विराजमान थे,
इतस्ततः तारक के समान ही
महा प्रफुल्ला कुमुदावली लसी ।

---

[1]नदी या तालाब । [2]शरदृतु रूपी स्त्री । [3]चंद्रमा ।

(४)

तडाग थे स्वच्छ तडाग हों यथा,
सरोज थे फुल्ल सरोज हों यथा,
शशांक था मंजु शशांक हो यथा,
प्रसन्नता-पूर्ण शरत्स्वभाव था।

(५)

हुई प्रसन्नेन्दु-मुखी सितांबरा[1],
उपस्थिता उत्पल-पत्र-लोचना,
स-पंकजा नीलिम-व्योम-शोभिता
स-हंस-वाल[2]-व्यजना शरद्-वधू।

(६)

सरोज-नेत्रा, सित-चंद्र-आनना,
महान रम्या, तरु-वृन्द-सौख्यदा,
शुभांबरा, गुप्त-पयोधर-प्रभा,
लसी नवोढ़ा-सम शारदी निशा।

(७)

धरित्रि में थी परिणाम-रम्यता,
तथा अनौद्धत्य[3] नदी-समूह में,
अ-पंकता थी जल में विराजती,
शरत्प्रभा से महि पूर्ण-काम थी।

---

[1]श्वेतवस्त्रवाली। [2]वालक या केश, पंख। [3]मंदता।

(८)

दिनान्त में भूपति एकदा यदा
मुदा पधारे त्रिशला-निवेश में
लखी स्व-जाया सखि-वृन्द-संयुता
विराजती प्रांगण में स-मोद थी।

(९)

दिनान्त में शान्त-स्वभाव संयमी
सभी सुखाते श्रम-वारि वार[1] का—
निवेश की ओर चले कि शीघ्र ही
चली स्व-छाया वन अग्रवर्तिनी।

(१०)

प्रशान्ति आयी सब ओर भूमि में,
हुई समस्ता महि शब्द-हीन-सी,
परन्तु तो भी कल-नाद उत्स का
सुना सभी ने लघु शैल था जहाँ।

(११)

निवृत्त हो भूपति राज-काज से
प्रसन्न लौटे गृह-अंतरंग में,
जहाँ स-गर्भा त्रिशला मदालसा[2]
विराजती थी सखि-मध्य-वर्तिनी।

---

[1]दिन। [2]मद से आलसयुक्त।

(१२)

दिनान्त का काल महान शान्त है,
मुहूर्त कोई इस-सा न कान्त है,
विहंग जाते सब स्वीय नीड[1] को
सरोज सोते निज नेत्र मूँद के।

(१३)

पवित्र साध्वी-सम साँझ की घड़ी
प्रशांत होती जब साँस साध के,
अडोल होती अलि[2]-नेत्र-पुत्तली
जिनेन्द्र-पूजा-रत अर्जिका-समा।

(१४)

प्रसून होते सब ओस-सिक्त हैं,
अतंद्र नक्षत्र-समेत व्योम भी,
तरंग होती अति नील रंग की,
विराजता पाटल[3] वर्ण पत्र पै।

(१५)

नृपाल आये गृह में दिनेश-से
निशेश-तुल्या त्रिशला उठी तभी,
सभी सखी तारक-मंडली-समा
स-भक्ति सेवा-रचना-प्रसक्त थीं।

---

[1]घोंसला। [2]भ्रमर। [3]लाल।

(१६)

तुरन्त ही पूर्व-दिशाभिरंजिनी
अपूर्व राका दिशि पूर्व में उगी,
स्व-कान्ति से जो करती तिरस्कृता
विलासिनी-मंजु-कपोल-कान्तता ।

(१७)

उसी घड़ी इन्दु-गभस्ति[१]-मालिका
गिरी सुधा-धौत[२] निवेश-भित्ति पै
प्रकीर्ण हो सुन्दर शोभने लगी,
समृद्धियाँ ज्यों अवदात[३]-वंश में ।

(१८)

समुद्र का उज्ज्वल फेन ले शशी
दिगंगना-अंगन लीपने लगा;
विनाश देने कुमुदादि[४]को कि सो
चला हनूमान-समान व्योम में ।

(१९)

तडाग में आयत अंतरिक्ष के
शशांक शोभा-मय राज-हंस-सा
विराजते संपुटिताब्ज-ऋक्ष भी
अमंद-आनन्द-प्रदान-दक्ष थे ।

---

[१]किरण । [२]चूने से पुता हुआ । [३]श्वेत । [४]कुमुद या राक्षस-विशेष जिसे हनुमानने लंका में मारा था ।

(२०)

निविष्ट हो पंजर में मराल ज्यों
हिमाद्रि के कंदर में यथा नखी
प्रवीर ज्यों कुंजर के वरंड[१] में
तथा शशी अंबर में प्रविष्ट था।

(२१)

कि व्योम-वापी[२]-सित-पुंडरीक था,
कि मार-शाणोपल[३] ही विराजता
कि रात्रि-वामा-कर-रिक्त गेंद-सा
शशांक कूदा नभ-वप्र[४] में तदा।

(२२)

नभोल्लता-कुंज-उपागता तथा
प्रमोद - पर्य्याकुल - तारका - मयी
निशांगना की तम-पूर्ण कंचुकी
स-वेग खींची कर से शशांक ने।

(२३)

मयूख[५]-लेखा प्रथमा शशांक की,
कि रात्रि की कुंकुम-चर्चिका लसी[६],
प्रवाल की पंक्ति अशोक-व्योम की,
कि मार की थी मणि-कुंत-वल्लरी।

---

[१]हौदा। [२]कूप। [३]शान रखने का पत्थर। [४]मैदान। [५]किरण। [६]लेखनी, कूची।

(२४)

त्रिलोक के मोहक अंधकार को
सदैव, नित्य-प्रति, खा रहा शशी,
इसीलिए उज्ज्वल-देह-कुक्षि[1] में
समूढ़ अंधंतम है, विलोकिये।

(२५)

कि प्रेम से तामस-केश-पाश को
मरीचि की अंगुलि से हटा-हटा,
विलोकिये, संपुटिताब्ज-लोचना
निशा-वधू का मुख चूमता शशी।

(२६)

विलासिनी-आनन कुंज-कुंज में
विलोकता है हँसता हुआ शशी,
प्रसारता है कर जाल-जाल में
मनोज्ञता की वह भीख माँगता।

(२७)

महीध्र[2] कैलाश हुये समस्त हैं
सभी पलाशी[3] सित-आतपत्र[4] हैं,
समुद्र सारे पय-सिंधु से लसे,
कु-पंक भी है दधि-तुल्य राजता।

---

[1]कोख। [2]पर्वत। [3]वृक्ष। [4]छतरी।

(२८)

शशांक प्रत्येक निशान्तराल[1] में
स्वकीय गाथा कहता धरित्रि से,
कि जन्म कैसे इस पिंड का हुआ,
कि कीर्ति कैसे बढ़ती सु-कर्म से।

(२९)

प्रपूर्ण राकेश नभो-निकुंज से
विकीर्ण[2] ज्योत्स्ना करता समंततः,
समीर मानों गति से शनैः शनैः
प्रगाढ़ निद्रावश हो रहा, अहो!

(३०)

शशांक-ज्योत्स्ना चलती सुमेरु से
महीरुहों से छनती धरित्रि में,
नदी बहाती तल में प्रकाश की,
बढ़ा रही प्रेम निशा ललाम से।

(३१)

उगा नहीं चंद्र, समूढ़ प्रेम है,
न चाँदनी, केवल प्रेम-भावना,
न ऋक्ष हैं, उज्वल प्रेम-पात्र हैं,
अतः हुआ स्नेह-प्रचार विश्व में।

---

[1]रात्रि के मध्य का समय। [2]प्रसरित ।

(३२)

मृदंग-वीणा-मुरचंग आदि से
मनोज्ञता है अनुराग-रंग में,
अशब्द सौंदर्य्य भरा हुआ, प्रिये !
अनूप दो-अक्षर-शब्द प्रेम में ।

(३३)

मनुष्य गंभीर, प्रवीर, धीर भी,
बँधे हुये हैं सब प्रेम-पाश में,
रहस्य सारे इस एक राग[1] में
भरे न जानें सुख के कि दुःख के ।

(३४)

यहीं कहीं भू-तल-मध्य जीव दो
विलोकते आपस का सु-मार्ग हैं,
यहीं कहीं जीवन-मध्य प्राण दो
अजस्र लालायित भेंट के लिए ।

(३५)

हरी लता स्वर्णिम पुष्प से मुदा
प्रगाढ़ मैत्री करती यहीं कहीं;
समाप्त होती जब दुःख-यामिनी
अवश्य आता दिन सौख्य-पूर्ण है ।

---

[1]गीत, विषय, प्रवृत्ति ।

(३६)

यहीं कहीं है मृदु भेद[1] प्राण का,
सभी बँधे हैं अनुराग-ताग में,
अदृश्य अज्ञात अकथ्य भावना
भरी हुयी है उस प्रेम-मंत्र में।

(३७)

प्रिये ! न पूछो मुझसे कि प्रेम क्या,
प्रकाश क्या वस्तु, कहो दिनेश से।
कि शैत्य[2] क्या ज्ञात करो निशेश से
कि पूँछ लो यामिनि से तमिस्र क्या ?

(३८)

कहो कि क्या है सुख स्वर्ग में प्रिये !
कहो कि क्या सुंदरता प्रसून में ?
कि कौन-सी है मृदुता कपोल में,
कि कौन लावण्य दृगम्बु-वृंद में।

(३९)

अनंत भांडार प्रगाढ़ प्रेम का
न रिक्त होना इस भूमि में कभी;
यही महा [3]मार्दव-युक्त भावना,
यही महा उत्तम राज-भोग है।

---

[1]रहस्य। [2]शीतलता। [3]मृदुता।

(४०)

कथा नहीं है कथनीय प्रेम की,
जहाँ नहीं दो मन एक भाव के,
जहाँ न हों दो हृदय-स्थली, जिन्हें
मिला रहा एक अभंग[1] मार्ग हो।

(४१)

पयोद-स ज्योति-विहीन व्योम में,
सु-पल्लवों-से तम-पूर्ण कुंज में,
विचार प्रेमी-जन के अदृष्ट, पै
समेत हैं विद्युत के प्रकंप के।

(४२)

महान इच्छा, त्रिशले! मदीय है
कि मैं तुम्हारा अनुराग यों बनूँ—
लगा रहूँ यावक[2]-तुल्य पाँव में,
रचा रहूँ आनन-मध्य पान-सा।

(४३)

गुलाब-सा है अनुराग, हे प्रिये!
उगा कभी जो मधु[3]-रात्रि में कहीं;
प्रपूर्ण संगीत-समान सौख्य से
स-प्रेम गाया मधु-रात्रि में गया।

---

[1]अव्यर्थ। [2]महावर। [3]वसंत।

(४४)

प्रभात से हीन प्रभा वसंत की,
पयोद से हीन दिशा निदाघ की,
सु-प्रेम से हीन मनुष्य-कल्पना
न की गयी है कवि से, मनोरमे !

(४५)

प्रसून-अंगांग-धृता, मनोहरा,
सुगंध - निश्वास - समीर - संयुता
वसन्त की मैं ऋतु था विलोकता
परन्तु तू देख पड़ी, मनोरमे !

(४६)

विलोकती है पहले स्व-नेत्र से
सदैव योषा निज प्रेम-पात्र को;
परन्तु पीछे अवलोकती जहाँ
वहाँ वही भाजन[1] प्रेम का उसे।

(४७)

पुरंध्रि ! स्वर्गीय प्रतीति प्रीति है,
सुपर्व-रागाग्नि[2]-प्रदत्त अर्चि[3]-सी,
कि जो उठाती मन को अवश्य ही
त्रिलोक के ऊपर स्वीय शक्ति से।

---

[1]पात्र। [2]प्रेम-अग्नि। [3]किरण।

(४८)

चकोर को क्यों अनुराग चन्द्र से ?
प्रदीप से प्रीति पतंग को तथा ?
नितान्त ही कारण खोजना वृथा,
न प्रेम इच्छा-सुत है मनुष्य का।

(४९)

दिनेश ही एक न तेजवान है,
निसर्ग का प्रेम द्वितीय सूर्य्य है;
जहाँ कहीं सो निज रश्मि डालता
वहीं प्रभा-युक्त प्रमोद राजता।

(५०)

नतभ्रु[1]! मैं तो दिनरात खोजता
प्रभाव क्या है तव प्रेम का, प्रिये !
कि अन्य-वामा-स्मित से मनोहरा
प्रतीत होती यह दृष्टि-भंगिमा।

(५१)

समस्त-आनंद-विचार-भाव जो
विकार लाते बहु प्राणि-पुंज में,
अजस्र वे आश्रित प्रेम-भूप के
अमात्य[2]-से, सेनप-से, नियोज्य[3]-से।

---

[1]नत हो भ्रू जिसकी। [2]मंत्री। [3]सेवक।

(५२)

मनुष्य-अस्तित्व, निसर्ग-योजना,
समस्त ब्रह्मांड-निरूपणा तथा
अजस्र ही निर्भर प्रेम पै कि जो
सु-पुष्ट प्राग्वंश[1] अशेप-सृष्टि का।

(५३)

अदृष्ट है उद्‌गम देश प्रेम का
कि जो अनाहूत[2] पधारता, प्रिये !
परन्तु जाता वह है न चित्त से,
चला गया सो न कदापि प्रेम है ।

(५४)

समष्ट[3] दो प्राण, समस्त चित्त दो
समूढ़ दो अक्षर प्रेम नाम के
सदा बनाते सुख दुःख को, प्रिये !
महीतलाधिष्ठित स्वर्ग हो रहा ।

(५५)

विभेद[4] खोता सब प्राणि-मात्र का
कहा गया दृष्टि-विहीन प्रेम है ।
न भेद है श्रावक या श्वपाक में
न देव या दानव में विभिन्नता ।

---

[1]बड़ेर, वह बाँस जो आधार के लिये दो छप्परों के बीच में रखा जाता है
[2]बिना बुलाये । [3]एक-साथ । [4]पृथकत्व ।

(५६)

मनुष्य के चंचल रक्त-बुन्द से
सदा समुद्वेलित सिंधु न्यून है;
स-प्रेम सिंधुस्थ नगाधिराज[1] के
समंततः उच्छल-नीर विश्व है।

(५७)

मनोज ज्यों दग्ध हुआ शिवाक्ष से
कि खिन्न दौड़ी रति खोजती हुई;
विषण्ण रोती वदती पुकारती
"कहो कहाँ कामुक, काम, कार्मुकी[2]।"

(५८)

प्रमत्तता, सम्यक-ज्ञान-हीनता,
अदीनता, उद्धतता, विकल्पता[3],
प्रसिद्ध जो दुर्गुण यातुधान में
वही बने सद्गुण प्रेम-पात्र के।

(५९)

चकोर राकापति को विलोकता
कि पूछता है निरपांग[4] नेत्र से,
"सदैव जो मैं लखता तुझे, सखे!
कहो तुम्हारा इसमें अलाभ क्या?"

---

[1]हिमालय। [2]धनुर्धारी कामदेव। [3]संदिग्धता। [4]अपलक।

(६०)

न राज्य पाता नृप युद्ध के बिना,
न दाम पाता श्रम के बिना श्रमी,
अवाप्त जो है इनको बिलंब में
तुरन्त सो सुन्दरि ! प्रेम-प्राप्त है ।

(६१)

"प्रभो ! मुझे प्रेम सदैव आप से
रहा पदों में परमानुराग ही,
बनी रहूँ मैं भवदीय चेटकी[1]
मुझे सदा प्रेम त्वदीय प्रेम से ।

(६२)

न एक वामांगिनि ही, वरंच मैं
त्वदीय स्वामिन् ! हृदयस्थिता सदा,
त्वदीय जो स्नेह, मदीप प्रेम जो
हुये सदा संगमवान पुत्र में ।

(६३)

"विलोचनों को प्रिय ज्योति-तुल्य जो,
हृदिस्थ है हे प्रभु ! रक्त-तुल्य जो,
सुपुत्र, साकार स्वरूप प्रेमका,
हुआ जिसे प्राप्त वही कृतार्थ है ।"

---

[1]नौकरानी ।

(६४)

"प्रिये ! तुम्हारी उठती सु-कुक्षि पै,
तथैव पीले पड़ते कपोल पै,
बिछा रही है मम लालसा सुधा,
खिला रही प्रेम-प्रकाश-पुष्प है।

(६५)

"मदीय आनंद-स्वरूपिणी, प्रिये !
मदीय आमोद-विधायिनी, प्रिये !
मदीय तू सद्गति, हे मनस्विनी,
मदीय तू हृद्गति रक्त-वाहिनी।

(६६)

"अये ! सुशीले ! सरसे ! सुलोचने !
मुझे सदा शैत्यद ओस-बुंद-सी,
विलोकता हूँ तुझको यथा-यथा
मदीय आशा बढ़ती तथा-तथा।

(६७)

"बड़ा पुराना इतिहास प्रेम का,
नवीन होता प्रति-याम है वही,
चिरंतनी[1] जो सरि[2] प्रीति-मार्ग की
मदीय सो मानस-भूमिका-गता।

---

[1]सनातनी। [2]नदी, प्रवाह।

(६८)

"तरंग है जो अनुराग सिंधु की
उमंग जो यौवन-अंतरंग की
वही जगज्जीवन-सार-ग्राहिणी
बनी महा सुन्दरता त्वदीय है।

(६९)

"न प्रेम आतंक-भयादि-युक्त है,
न प्रेम आतंक-भयादि-मुक्त है,
स्वरूप ऐसा कुछ देवि! प्रेम का
समान सर्वत्र अदेव-देव में।

(७०)

"सदैव इच्छामय प्रेम-तत्त्व है,
सदैव ईहामय[1] प्रेम-भावना;
विजेय लंका-सम द्वेष-दुर्ग है,
अजेय है यद्यपि स्नेह-शृंखला।

(७१)

"नितान्त-एकान्त-विहार-शील दो
महान प्रेमी-जन बैठते जभी,
अवश्य उद्वेग-प्रदायिनी उन्हें
व्यथा-कथा, पागल-प्रेम की प्रथा।

---

[1]इच्छा।

(७२)

"मुझे मिली जीवन के प्रभात में
अमूल्य भिक्षा प्रभु पार्श्वनाथ से;
मनोरमे ! जीवन की, सु-प्रेम की,
तथा तुम्हारे हृदयानुराग की।

(७३)

"अगाध रत्नाकर[1] के तले, प्रिये !
समुच्च प्रालेय-गिरीन्द्र[2]-शृंग पै,
प्रशस्त पाता पथ प्रेम सर्वदा
न प्रीति-संस्थान कहाँ त्रिलोक में ?

(७४)

"न प्रेम की प्राथमिकानुभूति से
पवित्र कोई अधिका विभूति है।
विचित्र है मानस के विहंग की
त्वरामयी[3] अंशुक[4]-पक्ष-विक्रिया।

(७५)

रहस्य-पूर्णा मम जीव-वल्लकी[5]
अदृष्ट-हस्तोद्धृत झंकृता हुई,
समस्त-रागाधिप प्रेम-राग की
छिड़ी प्रिये ! 'सा' सुन की त्रिसप्तकी[6]।"

---

[1]समुद्र। [2]हिमालय। [3]शीघ्रता-युक्त। [4]किरणों से बनी हुई, रेशम-सी हलकी और सुनहले रंगवाली। [5]वीणा। [6]तीसरे सप्तक की।

(७६)

"प्रभो ! मुझे हो किस भाँति चाहते ?"
"यथैव निःश्रेयस चाहते सुधी"
"प्रिये ! मुझे हो किस भाँति चाहती।"
"यथैव साध्वी पद पार्श्व-नाथ के।

(७७)

"यथा कली ने तरु-वृन्त[1]-संस्थिता
प्रकाश पाया, कि खिली प्रसन्न हो,
तथैव मेरी सुत-कामना, प्रभो !
प्रफुल्ल है प्रेम-रसानुषिक्त हो।"

(७८)

"प्रिये ! तुम्हारे मृदुभाव सर्वथा
सुदूर भू से रजनीश-तुल्य हैं;
लसा तुम्हरा मन प्रेम-पूर्ण जो
नितान्त मेरे मन के समीप है।

(७९)

"अरण्य, केदार[2], निकुंज, वापिका,
नगेश, तारेश, दिनेश आदि से
अवाप्त आनंद समस्त भूमि से
मिला तुम्हारे अभिराम[3] प्रेम में।

---

[1]टहनी। [2]खेत। [3]सुन्दर।

(८०)

"न प्रेम प्रालेय[1], विदाह भी यही,
न प्रेम राकेश, दिनेश भी यही,
न प्रेम है रुग्ण, अमर्त्य भी यही,
न हार ही, प्रत्युत[2] प्रेम जीत है।

(८१)

"मनुष्य जो प्रेम-निमित्त दुःख के
समुद्र को पार करे वही, प्रिये!
वरेण्य है मानुष से न जो कभी
व्यतीत स-स्नेह स्व-आयु को करे।

(८२)

"न वीरता, बुद्धि-बलिष्ठता, तथा,
न रूप-सौन्दर्य्य, गुणानुवृत्ति भी,
बने कभी भाजन[3] स्नेह-तत्त्व के;
नितान्त अज्ञात प्रवृत्ति प्रेम की।

(८३)

प्रिये! यथा सूर्य्य-मुखी प्रसून की,
प्रवृत्ति सूर्य्याभिमुखी प्रसिद्ध है।
तथैव मेरे मन की नियुक्ति भी
हुई तुम्हारे वदनारविन्द में।

---

[1]बर्फ। [2]अपितु। [3]पात्र।

(८४)

"वहित्र-सा जीवन मध्य-रात्रि के
पड़ा रहा चंद्र-विहीन सिंधु में;
मिला न दिग्सूचक-[1]यंत्र सा जभी
प्रिये! तुम्हारा कर, मैं दुखी रहा।"

(८५)

"प्रकाश से शून्य अपार व्योम में
उड़ी, बनी आश्रित-एक-पक्ष मैं
मिला नहीं, नाथ! द्वितीय पक्ष-सा
जभी तुम्हारा कर मैं दुखी रही।"

(८६)

"प्रताप से, जीवन से, प्रकाश से
प्रिये! सदा हो अति प्रेयसी मुझे;
बहा कभी था अनुराग-उत्स जो
प्रवाह-संयुक्त अजस्र[2] हो रहा।"

(८७)

"समीर-सी प्रेम-तरंग है, प्रभो!
न ज्ञात है आगम-निर्गम-स्थली,
अबाध[3] तो भी बहता प्रवाह है
नसों-नसों में मुझ प्रेम-प्राण के।"

---

[1]कम्पास। [2]निरंतर। [3]अप्रतिहत-गति।

(८८)

"दुरूह है प्रेम-रहस्य जानना,
न ज्ञात है कंटक है कि डंक है,
कि अग्नि हो वाडव की, मनोरमे !
सुखा रही जीवन[1] विश्व-सिंधु का।"

(८९)

प्रभो ! मुझे ज्ञात कदापि है नहीं,
सुधाक्त[2] है प्रेम, विपाक्त वस्तु या,
अनादि-माधुर्य्य-भरी विभूति है,
अनन्त-काकोल[3]-मयी प्रसूति है।

(९०)

"समक्ष स्वर्गीय—प्रभाव प्रेम के
समृद्धि सारी अति तुच्छ भूमि की,
न प्रेम के है अतिरिक्त प्रेम का
सुना गया मूल्य समस्त विश्व में।

(९१)

"समस्त वृन्दारक[4] देव-धाम के
विनाश दें अंतर देश-काल का;
सुरेश दो प्रेमिक-प्रेमिका मुदा
हिला-मिला दें, मम प्रार्थना प्रभो !"

---

[1]जल। [2]अमृत-सिंचित। [3]विष। [4]देवता।

(९२)

"प्रिये ! सदा सुन्दर प्रेम-भावना
प्रपूर्णता है नियमानुवृत्ति[१] की,
कि द्वैत[२] का तात्त्विक मूल-रूप है
कि एकता है युग चित्त-वृत्ति की ।"

(९३)

"विभावना[३] ईश-प्रदत्त प्रेम की
कही अनैसर्गिक संपदा गयी,
विलोचनों के, प्रभु ! एक वृन्द में
प्रतीत सारी वसुधा लखी गयी ।"

(९४)

"रहस्य से पूर्ण सहानुभूति है,
कि प्रेमियों के मन की प्रसूति[४] है,
प्रिये ! मुझे प्रेम-स्वरूप भासता
सु-लभ्य भू में विभु की विभूति है ।"

(९५)

"प्रभो ! सदा यौवन-पूर्ण प्रेम की
वसन्त-शोभा जग में बनी रहे ।"
"प्रिये ! सदा प्रेम-रसावलंबिनी
लगी झड़ी प्रावृट्[५] की घनी रहे ।"

---

[१]नियम पालने की प्रवृत्ति। [२]द्वैधीभाव। [३]विचार। [४]जन्म। [५]वर्षा।

(९६)

"सभी प्रजा शासित प्रेम-भूप से
विलोकिये मर्त्य-अमर्त्य-लोक में;
कि प्रेम ही, हे प्रभु ! देव-लोक है,
कि स्वर्ग ही अन्य स्वरूप प्रेम का ।"

(९७)

"प्रिये ! सदा प्रीति प्रशान्ति-काल की
बनी स-शक्ता परिवादिनी[1]-समा,
अशान्ति में भ्रान्ति-हयाधिरोहिणी[2]
सँवारती आकृति कान्ति-कारिणी ।"

(९८)

"न प्रेम को नाथ ! प्रतीति अन्य की,
स्वकीय जिह्वा करता प्रयुक्त है;
प्रवृत्त हों दो दृग बातचीत में
कदापि मध्यस्थ न चाहिए उन्हें ।"

(९९)

"कराह प्रेमी हृदयाब्धि से, प्रिये !
उठी, बनी पुण्य-पयोद-मंडली ।
तथैव प्रेमाग्नि क्षण-प्रभा बनी;
दृगम्बु-बुन्दावलि धार-सी गिरी ।

---

[1]वीणा । [2]भ्रान्ति के घोड़े पर सवार ।

(१००)

"अगाध गंभीर समुद्र-सी, प्रभो !
उदारता दिव्य त्वदीय चित्त की
प्रदत्त होती मुझको यथा-यथा,
अतीव अक्षय्य[1] लसी तथा-तथा।"

(१०१)

"प्रिये ! तुम्हारी रसना रसाल से
मदीय आत्मा मुझको पुकारती,
स-प्रेम संगीत-समान सौख्यदा
प्रतीत राका-शशि के तले मुझे।"

(१०२)

"प्रभात के आगम पै तुम्हें, प्रभो !
न मैं तजूँगी निज नेत्र से कभी,
मिलिन्द के प्रेम-प्रभाव से मुदा
सरोजिनी[2] ज्यों वनती कुमोदिनी[3]।

(१०३)

दिनेश के आशुग[4] अंशु-तुल्य हैं
विचार ही अग्रग[5] दूत प्रेम के,
इसीलिए स्नेह-पतत्र[6]-संग में
समीर की भाव-तरंग जा रही।"

---

[1]न क्षीण होनेवाली। [2]दिवा-विकासी कमल। [3]निशा-विकासी कमल
[4]घोड़ा। [5]अग्रगामी। [6]पंख।

(१०४)

"प्रिये ! तुम्हारी मुख-तुल्यता लिये
निशेश शोभा नभ की बढ़ा रहा,
समस्त तारे मधु-पात्र से लसे
इसीलिए है निशि सर्व-वल्लभा[1] ।"

(१०५)

"न आयुधों से विच्छिन्न प्रेम है,
न दग्ध होता वह अग्नि से कभी,
नहीं जल-प्लावन के अधीन, जो
अभेद्य आत्मा, अविछेद्य प्रेम है ।"

(१०६)

"पतंग हो, या कि प्रदीप हूँ, प्रिये !
पतंग हूँ, या कि प्रदीप हो तुम्हीं;
रसाल हूँ, या पिक हो, न ज्ञात है,
रसाल हो या पिक हूँ, रहस्य है ।"

(१०७)

"प्रतीत होती मुझको अहो, प्रभो !
सनातनी पद्धति प्रेम-तत्त्व की
न भान होता कुछ देश-काल का
न आदि की भीति, न अंत की भिया[2] ।"

---

[1]सर्व-प्रिया, वेश्या । [2]भय ।

(१०८)

"विहंग हो सो उड़ जाय व्योम में,
उदार दानी कुछ और दान दे,
परन्तु मेरे कुछ-और पास में
न प्रेम के है अतिरिक्त, हे प्रिये !"

(१०९)

"सरोज-सा है यदि प्रेम, हे प्रभो !
भवान[1] भी तो दल-तुल्य दिव्य हैं,
बराकी[2] जीवन-संगिनी बनी
बढ़ा रही हूँ शरदम्बु-संपदा।"

(११०)

"न लोभ होता सुर-धाम में, प्रिये !
न लाभ होता नरकाधिवास में;
न काम होता जिस प्रेम-लोक में
प्रसिद्ध भू में अपवर्ग[3] है वही।"

(१११)

"प्रभो ! महाकोमल-चित्त प्रेम को
न मान देते वह लोग मूर्ख हैं,
बलिष्ठ ऐसा यह है कि सर्वदा
प्रसह्य[4] पाता जय बुद्धिमान पै।"

---

[1]आप। [2]बेचारी। [3]मुक्ति। [4]बरबस।

(११२)

"प्रिये! हमारा यह प्रेम सर्वदा
स-हर्ष आलिंगन आपका करे;
त्वदीय आशा पुलकावली गहे,
मदीय वक्षस्थल अश्रु से भरे।

(११३)

"न ओष्ठ-पत्र-स्थित प्रेमकी कथा,
महा निगूढ़ा,[१] हृदय-स्थिता तथा,
अतीत के गह्वर में छिपी, प्रिये !
जहाँ न जाता इतिहास कीर्ति का।"

(११४)

"प्रभो ! बहे प्रेम-प्रवाह सर्वदा
बना रहे स्नेह-स्वभाव विश्व में,
निशेश चाहे बन नील नष्ट हो
दिनेश चाहे तम-खंड ही बने।"

(११५)

"प्रिये ! समस्तोत्तम[२] प्रेम-भाव है;
प्रवीरता ही करता प्रदान है;
—न वीर पाते गति युद्ध-भूमि में,
सती न पाती पति अन्य जन्म में।"

---

[१]गुप्त। [२]सर्वश्रेष्ठ।

(११६)

"सदैव वासन्तिकता-प्रपूर्ण जो,
अवाप्त[1] हेमन्त न प्रेम-वर्ष को,
प्रभो ! इसी के युग अग्र-दूत हैं,
मिलिन्द प्रेमी, मृदु प्रेमिका पिकी ।"

(११७)

"प्रियाल से प्रेम हुआ मुझे, प्रिये !
तदा रहा केवल पारिजात से,
परन्तु पीछे उस पुष्प से हुआ
छुवा जिसे तो फलवान हो गया ।"

(११८)

"प्रभो ! निराकार त्वदीय प्रेम यों
प्रसून साकार-चरित्र हो गया,
कि कंदली[2]-युक्त बनी सरोजिनी
मुखाग्र पै पीत पराग छा गया ।"

(११९)

स-प्रेम पारस्परिका कथा चली
अतीव संगर्भित विश्व-तत्त्व से;
तथैव सम्राज्ञि-महानुभूति में
हुयी पिशांगा शरदिन्दु-चंद्रिका ।

---

[1]प्राप्त । [2]लता ।

(१२०)

हुई प्रतीची शशि-गर्भ-संयुता,
तथैव प्राची रवि-अर्भ[1]-गर्भिता,
बनी निशा पूत-प्रभात-गुर्विणी[2]
समस्त भू गर्भ-कठोरता-मयी ।

(१२१)

प्रभात में छोड़ सरोजिनी यथा
मिलिन्द होता बहु मुग्ध सर्वथा;
तथैव सिद्धार्थ विमुग्ध-चित्त हो
चले मुदा श्रीत्रिशला-निवेश से ।

[द्रुतविलंबित]

(१२२)

यह प्रसंग पुरातन प्रेम का
समय-लब्धि[3] जिसे न बता सकी,
प्रकट आज हुआ जिस यत्न से
वह अकथ्य कथा, कहना वृथा ।

---

[1]बालक । [2]गर्भवती । [3]शुभ-समय, सुयोग ।

छठा सर्ग

[वंशस्थ]

(१)

प्रभात से ही सब दिक्कुमारियाँ
विशुद्ध-वस्त्रा बन छद्म-वेषिणी,
लगीं सपर्य्या[1] करने चतुर्दिशा
जिनेन्द्र-गर्भा त्रिशला ललाम की।

(२)

कुमारियाँ वे सखि-रूपिणी सभी
अजस्र सेवा करती स-प्रेम थीं;
सँगीत गाती बहु गीत[2]-मोदिनी
विमुग्ध स्वर्गाधिप-वामलोचना[3]।

(३)

सभी उपादान[4] पवित्र स्नान के
समस्त पूजा-व्यवधान[5] आदि ले
खड़ी हुई थीं त्रिशला-समीप ही
सखी-स्वरूपा त्रिदिवेश[6]-कामिनी।

---

[1]पूजा, सेवा। [2]किन्नरियाँ। [3]शची अथवा देवियाँ। [4]साधन। [5]प्रबन्ध। [6]इन्द्र।

(४)

सजा रहीं मंगल-द्रव्य सामने
लजा रही थीं [1]नति को नतांगि के;
मिलिन्द-जाया-सम लोटती हुयी
विनम्रता से त्रिशला-पदाब्ज में।

(५)

विमुग्ध-चित्ता करती अजस्र थीं
समस्त आयोजन-भोजनादि के,
अनेक देवी शयनांक-सज्जिनी
बिछा रही थीं नव पुष्प प्रेम से।

(६)

अनेक धोतीं पद-पद्म भक्ति से,
अनेक आभूषण साजती रहीं,
अनेक थीं अंशुक[2] से सँवारती,
अनेक ताम्बूल प्रसाधती[3] रहीं।

(७)

प्रकीर्ण था जो बहु पुष्प-धूलि से
निवेश का प्रांगण थीं बुहारती
अनेक-योषा मृग-भेद नीर से
निवास-आसिंचन-दत्त-चित्त थीं।

---

[1]झुकावट। [2]रेशमी वस्त्र। [3]बनातीं।

(८)

दिवौकसी[1] रत्न-प्रदीप-दर्शिनी
विभावरी-आगम में विमुग्ध थीं;
अनेक लेके असि गर्भ-रक्षिणी
निवेश-रक्षा करती अजस्र थीं।

(९)

विलोक हेमन्त प्रवृत्त लोक में
जिनेन्द्र-गर्भ-स्थिति-रक्षणार्थ ही,
तुरंत सप्ताशुग[2] पै सवार हो
दिनेश ने भी धनु हस्त[3] में लिया।

(१०)

दरिद्र-आशा-सम शीत-यामिनी
बढ़ी कि तृष्णा अनुदार-चित्तकी;
कि द्रौपदी के पट-सी प्रलंबिनी
सुदीर्घ हैमन्तिक [4]शर्वरी हुयी।

(११)

हिमोज्वला, दन्त-कचोज्वला महा,
तथैव मंद-द्युति-ताराकाकृती
शनैः शनैः हो द्विगुणी[5]-कलेवरा
नितान्त वृद्धा-सम यामिनी चली।

---

[1]देवियाँ। [2]सात घोड़े। [3]हेमन्त में सूर्य्य धनु राशि में प्रविष्ट होता है। [4]निशा। [5]टूट कर दोहरी हो गई।

(१२)

नवांगना की रति-कामना-समा,
तथैव लज्जा इव प्रौढ़ नारि की,
कि स्वैरिणी[1] की नियमानुवृत्ति-सी
अदृश्य होती क्षण में दिन-प्रभा।

(१३)

स-भास यों कोरक[2] कुंद-पुष्प के
विराजते पल्लव-अंतरिक्ष में,
यथैव हो शीत-विभीत तारिका
छिपी हुयी कुंद-लता-समूह में।

(१४)

दिनेश का आतप मंद हो गया,
निशेश की भी अति शीत चंद्रिका,
महान व्यापा शिशिरर्तु-शैत्य यों
न अग्नि में तेज रहा विशेष था।

(१५)

निवेश-वातायन-काच-पीठ पै
तुषार[3] के चित्र विचित्र हो गये;
सुकर्णिका[4] के, सरसीरुहादि के
अनूप थे गुच्छक-से लसे हुये।

---

[1]पुंश्चली स्त्री। [2]कलियाँ। [3]पाला। [4]गुलाब।

(१६)

तुषार पै वज्र-कपाट बंद हों,
निवार दें पुष्ट छतें समीर को,
हिमांशु वातायन से न आ सके,
प्रयत्न-सा था त्रिशला-निवेश में।

(१७)

प्रभात में पादप-शृंग पै गिरें,
बने रहें, पुष्कल[1] ओस-बुंद यों,
रहें दिखाते निज सप्त-रंग वे
नरेन्द्र-जाया जबलौं जगे नहीं।

(१८)

प्रसून सोते हिम-खंड के तले
वसन्त के स्वप्न विलोकते हुये;
पड़ी प्रसुप्ता त्रिशला-निवेश में
लिए हुये एक रहस्य गर्भ में।

(१९)

अतंद्र-निःश्वास प्रभात जानके
तुषार के शायक छोड़ने लगी,
विदारती है हृद[2] शीत-रात्रि का
निशान्त-कारी रवि की शरावली।

---

[1]अधिक संख्या में। [2]हृदय।

(२०)

"जगो, जगो, देवि ! प्रभात हो गया,
उषा समारूढ़ हुई निशान्त पै,
जगज्जयी केवल एक काल है,
अतः उठो, हे समयानुवर्तिनी[1] !"

(२१)

सुनी सु-वाणी सखि-वृन्द की मुदा
जगी मनोज्ञा त्रिशला प्रभात में
परन्तु शीतर्तु उषा-समान ही
अनल्प[2] लेटी निज तल्प[3] में रही।

(२२)

कठोर-गर्भा त्रिशला विलोक के
स-प्रेम आयीं सखियाँ समंततः,
मनोज्ञ प्रश्नोत्तर से स-मोद वे
लगीं रचाने बहलाव चित्त का।

(२३)

दिवौकसी, सुन्दरि, छद्मवेषिणी
स-तर्क शंका करने लगीं सभी;
जिनेन्द्र-गर्भ-स्थित हैं कि अन्यथा
लगीं परीक्षा करने अनेकशः।

---

[1]समय के अनुसार अनुवर्तन करनेवाली। [2]बड़ी देर। [3]झूला।

(२४)

"विरक्त हो कामुक जो महान है,
निरीह[1] है, इच्छुक है अवश्य जो,
नरेन्द्र-जाये ! त्रिशले ! शुभे ! अहो !
कहो परात्मा प्रभु कौन विश्व में ? ।

(२५)

'अदृष्ट है कौन, तथापि दृष्ट है ?
स्वभाव से निर्मल कौन लोक में ?
महार्ह[2] है किन्तु न देव-रूप है ?
दयार्द्र है, देह-दया-विहीन है ?"

(२६)

नृपालिका ने सब प्रश्न यों सुने,
दिया नहीं उत्तर व्यक्त रूप से,
परन्तु होके नत-लोचना मुदा
विलोकने कुक्षि लगी मदालसा ।

(२७)

"अगाध-संसार-पयोधि में, शुभे !
न डूबने दे वह पोत[3] कौन है ?
नृपाल-भार्य्ये ! कृपया बताइए,—
"वहित्र[4] अर्हन्-पदारविन्द का" ।

---

[1]इच्छा-हीन । [2]महँगा, दुर्लभ । [3]नाव । [4]जहाज ।

(२८)

"नृपेन्द्र-जाये ! गुरु कौन श्रेष्ठ है ?"
"त्रिलोक-आलोक-प्रदातृ, देवियो !
जिनेन्द्र-नामा गुण में उदात्त जो
प्रसिद्ध जो कर्म-कृतांत[1] नाम से।"

(२९)

"सु-शास्त्र प्रामाणिक कौन श्रेष्ठ है ?"
"सदा सभी संसृति[2] का हितेच्छु जो,
तथैव अष्टादश-दोष-हीन जो
सदा अहिंसा करता प्रचार हो।"

(३०)

"विनाशिनी जो भव-मृत्यु-दुःख की
कहो सुधा-सी वह वस्तु कौन है ?"
"जिनेन्द्र के आनन-कंज-कोप से
मनोरमा निः सृत[3] वाक्य की सुधा।"

(३१)

"कहो, शुभे ! ध्येय पदार्थ क्या यहाँ ?"
"महान कल्याणक[4] जैन-शास्त्र ही।"
"कहो, कहो भू-पर गेय वस्तु क्या ?"
"जिनेन्द्र-द्वारा-परिगीत[5] तत्त्व ही।"

---

[1]यम। [2]संसार। [3]निकली हुई। [4]कल्याण करनेवाले। [5]कहा हुआ

(३२)

"दुरन्त भू में अदुरन्त कार्य क्या ?"
"स्व-कर्म-नाशी जिन-धर्म-धारणा।"
"त्रिलोक में संग्रहणीय वस्तु क्या ?"
"स्व-धर्म जो नाशक कर्म-लोक का।"

(३३)

"कहो, अये ! लक्षण जैन-धर्म के;"
"तपादि-रत्न-त्रय-शील स-क्षमा,
दशांग जो युक्त अणु-व्रतादि[1] से
प्रसिद्ध भू में अति सौम्य सर्वदा।"

(३४)

"नरेन्द्र-वामे ! फल धर्म का कहो;"
"त्रिलोक-स्वामित्व, जिनेन्द्र-संपदा;"
"समुच्च धर्मी जन कौन विश्व में ?"
"प्रशान्त, संशुद्ध, गताभिमान जो।"

(३५)

"कहो कि क्या पाप धारित्रि में, शुभे ?"
"असत्यता, क्रोध, कषाय आदि ही।"
"कहो कि क्या है फल पापका, अये !"
"मनुष्य की दुर्गति, रोग, मृत्यु ही।"

---

[1]अणु-व्रत, महाव्रत आदि।

(३६)

"अघी कहेंगे किस निन्द्य जीव को ?"
"कषाय-क्रोधादिक-युक्त जो कि हो;"
"कुबुद्धि, लोभी जन कौन है, शुभे !"
"सदैव जो द्रव्य लहे अधर्म की।"

(३७)

"अये ! कहो कौन विचारवान है ?"
"अदोष-शास्त्रज्ञ, सदैव संयमी।"
"धरित्रि में कौन सु-धर्म-वान है ?"
जिनेन्द्र-सेवा-व्रत प्रेय[१] हो जिसे।"

(३८)

"नृपाल-जाये ! पर-लोक-पान्थ का
कहो कि क्या संबल[२] है यथार्थतः ?"
"जिनेन्द्र-पूजा, उपवास, दान के
समेत शील, व्रत, संयमादि ही।"

(३९)

"स्वकीय ले जन्म कहो कि भूमि में
हुआ फलीभूत मनुष्य कौन-सा ?"
"जिसे मिला उत्तम भेद-ज्ञान, जो
कि पा सका सत्तम[३] मोक्ष-संपदा।"

---

[१]प्रीति-पात्र। [२]मार्ग का भोजन। [३]उत्तम, सर्व-श्रेष्ठ।

(४०)

"कहो सुखी कौन, नरेन्द्र--योषिते !"
"परिग्रहों की तज व्याधियाँ सभी
मनुष्य ध्यानामृत-पायि[1] सर्वदा
निवास जो हो करता अरण्य में"

(४१)

"सु-वस्तु भू में परिचिंतनीय क्या ?"
"विनाश दुर्जय स्व-कर्म-शत्रु का"
"सुभर्तृके ! संग्रहणीय वस्तु क्या ?"
"अक्षय्य निःश्रेयस-सिद्धि-कल्पना[2] ।"

(४२)

"करें समुद्योग कहाँ, वरांगने ?"
"तपादि रत्न-त्रय प्राप्त हों जहाँ ।"
"प्रशंसनीया किसकी सुवृत्ति है ?"
"सु-पात्र-दानाश्रय जो गहे सदा ।"

(४३)

"कहें किसे मित्र ? बताइए हमें,"
"छुड़ा सके जो अघ-ओघ से तुम्हें ।"
"मनोरमे ! भू पर कौन शत्रु है ?"
"न पालने दे व्रत धर्म जो तुम्हें ।"

---

[1]पीनेवाला । [2]रचना ।

(४४)

"नृपालिके ! कौन समान आपके
जिनेन्द्र के तुल्य सु-पुत्र-जन्म दे,
कि कौन माता ? कृपया बताइए,"
"जनें मुदा कर्म-करी-मृगेन्द्र जो ।"

(४५)

"नतभ्रु ! पाण्डित्य-यथार्थ-रूप क्या ?"
"अघौघ-क्रोधादि-कषाय छोड़ना ।"
"कहो, कहें सुन्दरि ! मूर्ख भी किसे ?"
"स्वधर्म की जो अवहेलना[1] करे ।"

(४६)

"कहें किसे वीर ?" "कि धर्म-शस्त्र से
सँहारता जो अरि काम-क्रोध-से ।"
"कहें किसे देव ?" गुणाढ्य, विज्ञ, जो
क्षुधादि अष्टादश-दोष-शून्य हो ।"

(४७)

नरेश-जाया-कृत उत्तरावली
सहेलियों ने सुन हृष्ट-मानसा[2]
निरोष्ठ्य[3]-शब्दावलि-युक्त वाक्य से
लगीं प्रशंसा करने पुनः पुनः ।

---

[1]तिरस्कार । [2]प्रसन्न-चित्त । [3]पवर्गके अतिरिक्त अक्षर ।

(४८)

"त्रिलोक का नाथ, अधीन-संश्रयी
व्रती दया-गेह त्वदीय सूनु हो,
हुई सुनेत्रे ! उदरस्थ सत्य ही
अतीव कल्याणकरी विभूति है।"

[द्रुतविलंबित]

(४९)

सखि-समूह-प्रशंसित सुन्दरी
उठ पड़ी त्रिशला शयनांक से;
जिस प्रकार पयोधर-तल्प से
उठ पड़ी चपला[1] घन-वल्लरी।

[वंशस्थ]

(५०)

उसी घड़ी पूर्व-दिशा-प्रकाशिनी
किया उषा ने अमिताभ व्योमको,
दिशा-दिशा में उगते दिनेशकी
दिगन्त-व्यापी यह घोषणा हुई:—

(५१)

"विलोक लो, है शुभ वार आ गया
यही तुम्हें जीवन[2] है विशेषतः,
उठो, उठो, ईश्वर प्रार्थना करो,
जगो, जगो सत्वर कार्य में लगो।

---

[1]शीघ्र-गामिनी। [2]वर्तमानकाल ही मनुष्य का जीवन है।

(५२)

"यथार्थता, जीवन की विशेषता
विभिन्नता, जीव-समूह-साम्य भी
भरे हुये हैं इस एक बार[1] में
अतः करो यापन[2] दिव्य-काल का।

(५३)

"भरा हुआ उन्नति-सौख्य से मुदा,
सजा हुआ कर्म-महत्त्व से सदा,
समस्त-सौंदर्य्य-प्रभाव-युक्त है
यही महा मंजुल वार आज का।

(५४)

"सुमेरु के मानस से उड़ा, हुआ
मराल-सा उज्ज्वल, वार आ गया;
अमर्त्य-संदेश लिए हुए चला
अनूप पूर्व-क्षुप[3]-शेखरस्थ है।

(५५)

"गया, विलोको, वह वार व्यर्थ ही,
कि अस्त होता जिसका तमिस्रहा
लखे कि कोई शुभ कार्य्य आपके
सु-कार्य-कारी कर से न हो सका।

---

[1]'आज' का वर्णन-प्रारंभ। [2]बिताना। [3]वृक्ष।

(५६)

"विभावरी[1] के तम-पृष्ठ पै कहीं
नितान्त अज्ञात सु-दूर देश में
दिनेश, जाती[2]-सुम के समूह-सा,
विलोकता था क्षण वार-जन्म का।

(५७)

"अनादि का और अनन्त का हुआ
अनूप यों संगम आज व्योम में,
प्रभात-प्याला उफना उठा, अहो!
गिरा रहा उज्ज्वल धार तेज की।"

(५८)

कठोर-गर्भा त्रिशला मदालसा
निवृत्त होके निज नित्य-कर्म से
विलोकती वासर-कान्ति सुन्दरी
इतस्ततः प्रांगण में बिछी हुई।

(५९)

कभी-कभी सो पद मंद-मंद दे
निवेश में थी चलती सुलोचना;
चतुर्दिशा सम्यक दृष्टि-पात से
बिछा रही उज्ज्वल नील कंज थी।

---

[1]रात्रि। [2]पीली चमेली।

(६०)

समस्त-कर्तव्य-परायणा सखी
अजस्र संलग्न स्वकीय कार्य में;
विनोद देतीं सब भाँति-भाँति के
मुदा सपर्य्या रचती प्रकाम थीं।

(६१)

निवृत्त हो दैनिक कार्य-भार से
सहेलियाँ चंग-मृदंग-वाद्य ले
तुरन्त गाने लगतीं स-मोद वे
पिकी-मयूरी-चिमि[1]-चातकी-समा।

(६२)

अनूप ताल-स्वर-युक्त राग वे
मुदा सुनातीं ध्वनि तीव्र मंद्र से,
नरेन्द्र-जाया शयनांक-संस्थिता
गँभीर-भावा सुनती स-मोद थी।

(६३)

स-झाल-मंजीर-विषाण[2]-वेणुका
सुषीर-आनद्ध[3]-समस्त वाद्य से
सहेलियों की कल काकली मिली
सुगीति रानी सुनती प्रमोद से।

---

[1]शुकी। [2]शृंग। [3]विविध प्रकार के ताल एवं मुँह से बजने वाले बा

(६४)

चलीं जया[1] की तनु[2] अंगुली तभी
विपंचिका पै अति तीव्र चाल से;
चलीं कि झंकार-समुद्र-अंग में
चढ़ाव-कल्लोल, उतार-ऊर्म्मिका[3]।

(६५)

मृदंग पै जो विजयांगुली[4] पड़ीं
स-ताल मंद्र-स्वर थीं निकालती;
तडिल्लताएँ जिस भाँति मेघ से
उछालती हों ध्वनि अंतरिक्ष में।

(६६)

कलावती[5] की मृदु मीड़ बीन पै
समाप्त होती इस भाँति थी नहीं,
बजे हुए वेणुक[6] के दिगन्त में
न अंत होता जिस भाँति शब्द का।

(६७)

नरेन्द्र-जाये ! तव प्रेम-गीत से
सुनो, उठीं गा सकला सहेलियाँ;
विराजिता प्रावृट् आम्र-कुंज में
अलापती हैं यह कुंज-कोकिला।

---

[1]सखीविशेष। [2]पतली। [3]लहर। [4]विजया सखी की अंगुलियाँ। [5]सखीविशेष। [6]वंशी।

(६८)

पराग-सा प्रेम स-राग भासता
कि पंखड़ी-सा पद एक-एक है;
सुगंध फैली स्वर की विकस्वरा[1]
सँगीत भी कंज-प्रसून-तुल्य है।

(६९)

बता, सखी ! गीति-निनाद-मोद ने
निसर्ग से जन्म लिया कि स्वर्ग से
कि सृष्टि की है यह भूति[2] आदिमा
सुपर्व-संदत्त[3] कि सिद्धि अंतिमा।

(७०)

संगीत से मानव ही न मोहते,
विमुग्ध होते मृग भी सुने गये;
पयोद ही हैं घिरते न व्योम में;
प्रदीप भी हो उठते प्रदीप्त हैं।

(७१)

संगीत के शब्द सितार-तार में
प्रसुप्त थे जो श्रुति[4] से परे अभी,
नृपालिका के मन के प्रमोद को
दयावती[5]-अंगुलि ने जगा दिया

---

[1]विकसनशील। [2]विभूति, घन-शोभा। [3]देवता-प्रदत्त। [4]श्रावण-शक्ति। [5]सखीविशेष।

(७२)

नरेन्द्र-जाया-हृदयानुभूति को
न गीत-प्रेमामृत स्थैर्य्य दे सका।
वरंच आयी जठरस्थ-पुत्र में
त्रिलोक-विस्फूर्ति-प्रदातृ-चालना ।

(७३)

प्रियंबदा[१] के मुरली-निनाद से
प्रवाहिता होकर भाव-भूमि में
हुई समुत्सारित श्रोतृ-श्रोत्र[२] में
प्रसन्न--गंभीर-पदा रसापगा।

(७४)

सँगीत में है जिस भाँति काव्य में,
कला अनंता अनवाप्त यत्न से,
जिसे कि कोई जन सिद्ध-हस्त ही
दिखा सका है अनवद्य[३] भाव से

(७५)

सुविक्रमी वीर कृपाण-धार से
किरीट लेता हर भूमिपाल का,
परन्तु सँगीत-सुविज्ञ सर्वदा
स्वराज्य-भोक्ता बनता त्रिलोक में।

---

[१]सखी का नाम। [२]सुननेवालों के कान। [३]पवित्र।

(७६)

विपंचि ! तेरे तनु[1] एक तार ने
हिला दिया राग-विहीन गर्भ भी;
यही प्रशंसा भवदीय न्यून क्या
कि जो पुनः लीन हुई स्व-राग में ।

(७७)

न देव होते अभिभूत क्यों, शुभे !
सँगीत देवालय-योग्य वस्तु है;
न युक्त संगीत-प्रभाव से हने
कुरंग को व्याध; अमाप[2] पाप है ।

(७८)

लिखा गया दिव्य सँगीत सर्वदा
दिगंत-पृष्ठों पर नाक-लोक के;
कहा गया है उस शब्द में कि जो
प्रसिद्ध भाषा सुमना[3]-समाज की ।

(७९)

समोद गावो अतएव, देवियो !
निरंतरास्वादन-दत्त-चित्त हूँ;
विधान सौधर्म्म-महेन्द्र का यही,
सँगीत है दान महान ईश का ।

---

[1]कोमल । [2]अत्यन्त । [3]देवता ।

(८०)

विपंचिके ! धात्विक शब्द तावकी[1]
विमोहते जीवित-भृंग-मंडली,
मनोरमा है ध्वनि भासती मुझे
सुकोमला नाद-कला अकथ्य है।

(८१)

सरस्वती लेकर बीन स्वर्ग में
निसर्ग के आदिम-काल में पुरा
लगी जभी सुन्दर गान छेड़ने
हुई स्वयंभू-श्रुति अष्ट-श्रोत्र[2] की।

(८२)

निनाद होता अति शुष्क पर्ण में,
अजस्र गाती सरि-धार गीति है;
मनुष्य के हों यदि कान, तो सुने
सँगीत व्यापा वन-अद्रि-व्योम में।

(८३)

सँगीत आत्मा त्रसरेणु[3]-व्यापिनी
त्रिलोक-स्रष्टा विभु से रची गयी;
प्रसिद्ध भू में श्रुतियाँ न चार ही
वरंच द्वाविंशति[4] हैं, अनन्त हैं।

---

[1]तेरे। [2]ब्रह्मा। [3]वह कण जो वायु में अदृष्ट उड़ते रहते हैं। [4]बाईस।

(८४)

अहो! तुम्हारे, सखियो! सँगीत से
प्रसन्न आत्मा मम हो रही मुदा;
द्यु-लोक-गामी रथ पै सवार-सी
जिनेन्द्र-मार्गाभिमुखी बनी अभी ।

(८५)

सुनी तुम्हारी मृदु गीतिका जभी
पयोद आये घिर प्राच्य[1]व्योम में;
अहो ! तुम्हारे पट से सुरंग ले
उगा, हुआ सुन्दरि ! इन्द्र-चाप है !

(८६)

हुई प्रतीची अनुरंजिता, तथा
प्रसन्न होता रवि अस्तमान है;
विमुग्ध प्राची-घन में उगा हुआ
सुरेन्द्र-कोदंड[2] विराजमान है ।

(८७)

नहीं रँगों से यह है बना हुआ
न स्वर्ण से, पारद से न ताम्र से;
स-जीव कोई घन तत्त्व है कि जो
प्रशस्त स्वर्गीय महत्त्व-युक्त है ।

---

[1]पूर्वीय । [2]धनुष ।

(८८)

प्रकाश के ले वह अंशु[1] सूत्र-से
सम्हाल यामा[2] निज चातुरी-तुरी[3],
सुवायिका[4]-सी रचती अनन्त में
समस्त-रंगी पट धूप-छाँह का।

(८९)

प्रकाश की राशि प्रशान्ति भास्वरा[5]
परात्म[6]-संदृष्ट, प्रदीप्ति शाश्वती
समूढ़ होके रचती प्रभावती
सुरेश-चापाकृति चित्त-मोहिनी।

(९०)

दिनान्त आया, गत दीप्ति हो चली,
प्रगाढ़ छाया-तम भासने लगा;
समाप्त संगीत हुआ निवेश में,
प्रमोद-दायी रवि अस्त हो गया।

(९१)

कलत्र—चूड़ामणि ! भूप-योषिते !
कुरंग-नेत्रे ! त्रिशले ! महान तू,
सुभाग्य तेरे जठरस्थ पुत्र का
न अस्त होगा इस बार-नाथ-सा।

---

[1]किरण। [2]रात्रि। [3]तागा भरी नली जो कपड़े का बाना बुनती है। [4]कपड़ा बुननेवाली। [5]प्रकाशित होनेवाली। [6]परमात्मा।

(९२)

स्वभाव, शोभा, गुण, रंग, रूप भी,
चरित्र तेरा जिनसे प्रशस्त है,
प्रभाव से ही उदरस्थ पुत्र के
न नष्ट होंगे इस इन्द्र-चाप-से।

(९३)

शुभे ! तुम्हारे हँसते कपोल पै
नृपाल का शाश्वत प्रेम राजता;
न शब्द से जो परिमेय[१] सर्वथा
अजस्र क्रीड़ा प्रति-मूर्त राग की

(९४)

नरेन्द्र-मेघ-स्थित इन्द्र-चाप-सी,
दिनान्त की सुस्मृति-सी मनोरमा,
निशान्त की नव्य उषा-समा शुभा,
प्रसिद्ध तू धर्म-दिनेश-मातृका[२]।

(९५)

वसन्त-आकाश-समान मंजुला;
सरोज-किंजल्क[३]-समान कोमला;
प्रभात-संगीत-समान सौख्यदा;
जिनेन्द्र की तू जननी प्रसिद्ध हो।

---

[१]नापी जानेवाली। [२]जननी। [३]पराग।

[द्रुतविलंबित]

(९६)

जननि तू अमिताभ[1] जिनेन्द्र की
विदित है सदया नृप-वल्लभा,
हृदय यद्यपि पूर्ण वलिष्ठ है
मृदुल चित्त सिरीष[2]-प्रसून-सा ।

---

[1]अत्यन्त शोभावाली । [2]सिरस का फूल ।

सातवाँ सर्ग

[वंशस्थ]

(१)

वसन्त आया कल-कंठ ने कहा,
वसन्त आया अलि-कीर ने कहा,
दिगन्त में, अंबर[1] में, धरित्रि में।
वसन्त की आगम-घोषणा हुई।

(२) ।

वसन्त-दूती मधु-गायिनी[2] पिकी
उपस्थिता मंजु रसाल-डाल पै
अमंद वाणी यह बोलने लगी :—
"वसन्त आया, ऋतुराज आ गया"।

(३)

सुमंद भाषा अलि बोलने लगे,
रसाल[3] जिह्वा शुक खोलने लगे,
अनेक पारावत[4] भूप-गेह से,
स-प्रेम बोले, 'नव वर्ष आ गया'।

---

[1]आकाश। [2]वसंत में गाने वाली। [3]रस-युक्त। [4]कबूतर।

(४)

अमंद वाणी कलविंग[1]-वृन्द की
नरेन्द्र-धामस्थ-कुलाय[2] से हुई;
'महीप जागो, नव वर्ष आ गया
नरेश जागो, नव याम आ गया'।

(५)

पिकी अदूरस्थ रसाल-वृक्ष से
जता रही इंगित[3] से अजस्र थी,
कि किंशुकान्तर्गत[4] बाल-रश्मियाँ
बना रही हैं स्मर-चाप-भंगिमा।

(६)

प्रसन्न कासार-विकासि कंज में
रमे कलालाप[5] महान मुग्ध थे
पतंग[6] के आगम से इतस्तत:
पतंग[7]-से वानर डोलने लगे।

(७)

अहो! मरुच्चुंबित-बाल-केसरी
विशाल - ताराधिप - मंडलाग्रणी,
विरक्त-रामातुर-दृष्टिवान हो
वसन्त आया हनुमान-रूप में।

---

[1]गौरैय्या। [2]घोंसला। [3]इशारा। [4]पलाश। [5]मिलिन्द। [6]सूर्य्य। [7]उड़ा
पतंग।

(८)

विवाह था या कि रचा गया वहाँ
वनस्थली का ऋतुराज से मुदा,
पलाश-साक्षी बन अग्नि-से गये,
कि थे पुरोधा[1] पिक मंत्र कूजते।

(९)

न सोहता सो सर कंज-हीन जो,
न सोहता भृंग-विहीन-कंज भी;
न सोहता गुंजन-हीन भृंग है,
न सोहता गुंजन माधवी विना।

(१०)

सु-पत्र आये, फिर पुष्प भी लसे
प्रसून आये, फिर भृंग भी वसे,
हुई समुत्सारित[2] यों वनान्त में
वसन्त के आगम की प्रतिक्रिया।

(११)

वसन्त का वायु बिखेरता चला
अहो! रजो-राशि[3] विस[4]-प्रसून की;
विमुग्ध थे देख सु-मंद चाल को
मिलिन्द के पुंज लता-निकुंज में।

---

[1]पुरोहित। [2]फैली हुयी। [3]पराग। [4]कमल-दंड।

(१२)

मिलिन्द-घंटावलि नाद-युक्त थी,
निपात होता मधु-दान[1]-वारि का,
प्रमत्त-सा कुंजर-कुंज वायु यों
चला जभी अंबुज काँपने लगे।

(१३)

विहंग बोले, तरु कूजने लगे,
नदी तरंगायित हो उठी तभी,
शुचि-स्मिता थी नव मल्लिका[2]-लता
गुणोज्वला थी बहु भृंग-वल्लभा[3]।

(१४)

नृपाल-आराम प्रफुल्ल-प्राय था,
मिलिन्द-नंदा[4] नव यूथिका[5] खिली,
अपार-भृंगोत्सव-युक्त मालती
मिलिन्द-वर्षा-मय वेशिका[6] बनी।

(१५)

प्रमोदिनी[7] थी अति शीतभीरु जो
वनान्त में कानन-चंद्रिका बनी,
वसन्त में होकर मुक्त-बंधना
सिता हुयी सो गिरिजा[8]-समान ही।

---

[1]हाथी का मद। [2]नेवारी। [3]जूही (सफेद) [4]भ्रमरों को प्रसन्न वाली। [5]जूही (पीली)। [6]चमेली (सफेद) [7]बेला। [8]बेला।

(१६)

हिरण्य-जाती[1] सुखदा मनोहरा
प्रियंवदा[2]-सी मन मोहने लगी ।
महाकुमारी[3]-सम नागं-पुष्पिका[4]
मिलिन्द-प्रेमी-गण वर्जने लगी ।

(१७)

विलोकने को मधु-मास की छटा,
सराहने को नव-पुष्प-मंजुता,
समस्त लेके निज संग में सखी
चली मनोज्ञा त्रिशला सुतालसा[5] ।

(१८)

कठोर-गर्भा लख भूप-सुन्दरी
सहेलियाँ यों बहला चलीं उसे ।
स-मोद गाती कुछ संग में चलीं,
प्रभा दिखाती कुछ थीं वसन्त की ।

(१९)

"लखो-लखो भूतल में बिछी हुई,
महान शोभा ऋतुराज-प्रात की,
प्रफुल्ल-प्राया कलिका-समूह से
मनोज्ञ आराम[6] बना नरेश का ।

---

[1]चमेली (पीली) । [2]प्रिय बोलनेवाली, चमेली । [3]गुलाब । [4]जूही-(पीली) । [5]गर्भ-भार से अलसित । [6]बाग़ ।

(२०)

"स्वकीय पुष्पांचल से वसन्त भी
बिखेरता पुष्पित कुड्मलादि है,
प्रतान से पुष्प-प्ररोह-ऊर्जना
गिरा रही पुष्पज रम्य रेणु है।

(२१)

"मनोहरा देव-प्रिया वसन्तजा[1]
बना रही उत्तम पुष्प-वाटिका,
प्रमोदिनी[2] सुन्दर भद्र-वल्लरी
उपाधि पाती सित गन्धराज की।

(२२)

"लखो शुभे ! पुष्प खिले हुए यहाँ,
सुवर्ण-से देव-मुखारविन्द के,
सुगन्ध भू में जिनकी महान है
भरी हुई मोहन-मंत्र-भेद[3]-सी ।

(२३)

मनोज्ञ-सौन्दर्य्य-प्रसन्न-वर्ण में
प्रसून के प्राण छुपे हुये, शुभे !
नसों-नसों में जिनकी नवा-नवा
स-भेद भाषा मृदु प्रेमकी लिखी।

---

[1]चमेली (पीली)। [2]बेला। [3]रहस्य।

(२४)

"विशिष्ट सद्भाव प्रसून-आस्य पै
प्रमोद, आशा, स्मित के विलोकिये;
विमोहिनी दर्शक-दृष्टि की महा
निगूढ़ है सुन्दरता प्रसून में।

(२५)

समस्त-सारंग-प्रतान-कुंज में
विवाहिता गंध हुयी सु-वर्ण से,
ललाम वीणा बजती मिलिन्द-सी
मृदंग की ताल पिकी लगा रही।

(२६)

बनी रुदन्ती[1] शिशिरर्तु-मृत्यु पै
जिसे हसन्ती[2] कहते सभी, शुभे!
दृगम्बु-द्वारा नव यूथिका खिली
हुई सुवृत्ता यह रक्त-बुन्द से।

(२७)

न जानता कौन मनुष्य जो, शुभे!
सदा रहा हो अभिभूत प्रेम से,
कि एकता ही करती प्रसिद्ध है
प्रसून-संभाषित कोमला कथा।

---

[1]रोती हुई। [2]जूही (सफेद)

(२८)

"बजा जभी अश्रुत[1] काल-यंत्र तो
झुका दिया शीस प्रसून-वृन्त ने
विलोकिये, हैं कहते उसे, शुभे !
तुरन्त सर्वेश-निदेश-पालना।

(२९)

"हिरण्य-वर्णे ! सुमने[2]! सुर-प्रिये !
अये जनेष्ठे[3]! वन-चंद्रिके ! सहे !
अये सुगंधे ! अयि चंद्र-वल्लिके[4] !
वसन्त ने स्वागत प्रेम से किया।

(३०)

"प्रभात-ओस-स्नपिता[5] कुमारिका
समीर-संचालित हेम-यूथिका
भ-चक्र-संपोषित स्वर्ण-जातिका
खिली हुई चित्र-अरण्य[6]-अंक में

(३१)

"न ज्ञात है कौन प्रसून प्रेय है;
न जानती सुन्दर पुष्प कौन है,
सहा[7], गवाक्षी[8] अथवा शिखंडिनी[9]
कि मालती, माधविका कि मल्लिका।

---

[1]जो न सुना जा सके। [2]चमली। [3]बेला। [4]माधवी। [5]स्नान किये हुये। [6]फुलवाड़ी। [7]गुलाब। [8]बेला। [9]जूही (सफेद)।

(३२)

"कपोल-आरक्त गुलाब के लसे
पिशंग[1] सारी पहने वसन्तजा[2]
वरांगना है, यह शीतल-च्छदा
प्रसन्न सर्वांग-समुज्वला सिता।

(३३)

"प्रसून-भाषा हृदयानुमोदिनी
अबोध को भी अति बोध-गम्य है,
प्रसून-शोभा चढ़ कूट-शृंग पै
बिछा रही तारक-राशि व्योम में।

(३४)

"प्रसून-भाषा मृदु प्रेम की कथा,
प्रसून-माला युग प्रेम की कथा,
प्रसून-वर्षा सुर-प्रेम की कथा,
प्रसून-आभा प्रभु-प्रेम की कथा।

(३५)

"विशाल वल्ली-वन में, वनान्त में,
दिवा-उडु-स्तोम[3] प्रसून-गुच्छ में,
विहीन हो जो कि अपांग-पात से
मुखेन्दु तेरा त्रिशले! विलोक ले।

---

[1]पीली। [2]नेवारी। [3]दिन में उगे हुये नक्षत्रों का समूह।

(३६)

"विलोकने को तुमको, नृपालिके !
अजस्र जागी सब रात कर्णिका,
उषा-समा आनन की प्रभा लखे
हुयी सहर्षाश्रु सहा, न ओस है।

(३७)

"कि अप्सरा-लोचन-रंजनार्थ[1] ही
खिले हुये वारिज हैं तड़ाग में,
कि अप्सरा-लोचन-साम्य के लिये
उगे हुये हैं सर में सरोज ही।

(३८)

"वसन्त में लेकर जन्म हर्ष से
वसन्तजा स-स्मित-आनना हुई,
कि मंजु आशा मुसकान स्वीय से
दिगंत को है भरती प्रमोद से।

(३९)

"प्रसून प्रत्येक-स्वकीय-श्वास का
प्रमोद लेता अथवा वनान्त में,
मिलिन्द के हेतु बनी हुई कली
प्रसून होती, खिलती स-मोद है।"

---

[1]प्रसन्नतार्थ।

(४०)

सहेलियों के संग में यहाँ-वहाँ
विलोकती थी त्रिशला प्रसन्न हो
चली न डोली निज गर्भ-भार से
प्रशान्त बैठी लगती सुदृश्य थी ।

(४१)

समीप ही एक गुलाब-वृक्ष था,
प्रसून फूले जिसमें अनेक थे;
नृपालिका-स्वागत-हेतु प्रेम से
प्रसारता था अपनी सुगंध जो।

(४२)

समीर की एक तरंग ने कहा,
"समीप उत्फुल्ल गुलाब-वृक्ष है"
मिलिन्द के मंद निनाद ने कहा,
"यहीं कहीं पास गुलाब-पाश[1] है।"

(४३)

न पंखड़ी शाश्वत[2] है गुलाब की,
दशा न है केसर की सनातनी,
परन्तु तो भी इसकी सुगंध में
चिरंतनी अस्थिरता अवश्य है।

---

[1]गुलाब का जाल, झाड़ी। [2]सनातनी

(४४)

प्रसून आधा यह धूप में खिला
तथैव आधा वह छाँह में खुला;
खिला-खुला एक रहस्य में छिपा
मनुष्य का जीवन धूप-छाँह-सा।

(४५)

धरित्रि में, आदिम सृष्टि-काल में,
हुआ जभी था अवतार प्रेम का;
गुलाब ही कोमल तल्प[१] में, तभी
गया बिछाया सुख से निसर्ग से।

(४६)

समस्त सौन्दर्य्य-प्रपूर्ण वस्तुएँ
अदीर्घ-कालीन प्रभामयी यहाँ,
विलोक लो जीवन भी गुलाब का
अतीव है अल्प, महान स्वल्प है।

(४७)

"न सूर्य्य डूबै जबलौं दिगंत में
गुलाब को लो चुन, पुष्प जा रहे।"
जभी जया यों कह वृक्ष को बढ़ी,
निवारने यों त्रिशला लगी उसे:-

[१]झूला, पलंग।

(४८)

"न पुष्प तोड़ो, अब ! दूर ही रहो,
न वृन्त शोभा-हत सौख्य-शून्य हो,
प्रसून में सृष्टि-प्रदत्त प्राण हैं
महान हिंसा सखि! तोड़ना इसे ।

(४९)

"मिलिन्द देखो वह आ रहा, उसे
निराश होना सखि ! यों पड़े नहीं;
विलोक ले सुन्दरता प्रकाम सो
पिये सुखी हो मधु भी ललाम सो ।

(५०)

"कभी सु-जाती[1], अति गंध[2] में कहीं
कभी सुरूपा[3], मधु-गंध[4] में कहीं,
मिलिन्द लेता रस मोद-युक्त है,
निरी निराशा उसको न प्राप्त हो ।

(५१)

"मिलिन्द ही तो विष-पूर्ण पुष्प से
निकालता है मकरंद की सुधा;
सराहिये जीवन तुच्छ जन्तु का,
विलोकिये अध्यवसाय जीव का ।

---

[1]चमेली (पीली) । [2]बेला । [3]चमेली (सफेद) । [4]नेवारी ।

(५२)

"मिलिन्द का कार्य्य मनोज्ञ गान है,
मिलिन्द की शान्ति अनूप तान है,
मिलिन्द की है अनुभूति प्रेम ही,
मिलिन्द का जीवन प्रीति-रीति है ।

(५३)

"प्रियंवदे ! तू तितली विलोक ले
अनेक-वर्णा सुषमा लिए हुये;
हुई समुत्पन्न लता-निकुंज में
सुमाध्य[1] के, कामुक[2] के, सुवृत्त[3] के ।

(५४)

"पराश्रया को लख चारु-केसरा
प्रसून पै चंक्रम[4] है लगा रही,
न जानती है रवि-रश्मि-मुग्ध हो
तन-प्रभा पे पड़ती विकीर्ण-सी ।

(५५)

"गुणोज्वला पाकर बाल-पुष्पिका
अनेक देती यह भाँवरें मुदा
यथा किसी उन्नत अद्रि-शृंग पै
सुमंद हों चंक्रम श्वेत मेघ के ।

---

[1]माधवी । [2]मालती । [3]मल्लिका । [4]चक्कर ।

(५६)

"पतंग-जाये, सखि ! पास में नहीं
स्व-बाल्य की है इतिवृत्त-लेखनी
विलोकते हो इसको, प्रियंवदे !
मदीय होते सब स्वप्न मूर्त हैं।

(५७)

"प्रसून हों या शिशु हों, प्रियंवदे !
पतंग हों, कोकिल हों, मिलिन्द हों,
उषा, शशी, पर्वत या वनान्त हों,
सभी यहाँ सुन्दर हैं, सुदृश्य हैं।

(५८)

"अनाथ है सुन्दरता न विश्व में
न नष्ट-प्राया, क्षण-भंगुरा कभी,
न एक प्रेमी-जन ही प्रशंसते,
वरंच सर्वेश्वर भी सराहते।

(५९)

"नतांगि ! सौन्दर्य-स्वरूप का यहाँ
सभी—परीक्षा, गुण, ध्येय—प्रेम है;
जिसे दिलाती बहिरंग-भावना
प्रपूर्णता आत्मिक अंतरंग की।

(६०)

"विलोक लो, लोक महान ओक[1] है
प्रसिद्ध जो सुन्दरताभिधान[2] से;
सुरम्य है अंबर से ढका हुआ,
सुचारु सारा जग अंग-अंग है।

(६१)

"विविक्त[3] संस्थान, वनान्त-प्रान्त में,
न व्यर्थ ही सुन्दरता भरी गयी;
विलोकने को यदि आंख दी गयी,
सु-दृश्य सर्वत्र बिनापवाद है।

(६२)

"सदैव सौन्दर्य्य विलोकना, तथा
सराहना एक पवित्र कार्य्य है;
महान आवश्यक नींवपै यहाँ
बना हुआ सुन्दरता-निवेश है।

(६३)

"धरित्रि होती तम-पूर्ण यामिनी
न तेज होता यदि सोम-अर्क में,
मिलिन्द जाता न प्रसून-पास, तो
न व्यक्त होता फल प्रेम-वृक्ष का।

---

[1]मकान। [2]सुंदरता के नाम से। [3]शून्य।

(६४)

"प्रभात देखा, दिन भी विलोक लो
प्रसून देखे, सुख-आल[1] देख लो,
लता निहारी, क्षुप भी निहार लो,
समस्त सौन्दर्य्य-प्रभाव-युक्त हैं।

(६५)

"चरा करें सारस-क्रौंच-कंक[2] भी
फिरा करें टिट्टीभ, नीर-काक भी,
घिरे रहें भेक, वलाक भी सदा
न सोहता हंस-बिना तड़ाग है।

(६६)

"नितान्त ही नीच, परन्तु रंच भी
करे न तू खेद कदापि, वापिके !
महान तेरा रसवान चित्त है
गुण[3]-ग्रहीता तुझ-सा न और है।

(६७)

"तड़ाग-शोभा बस एक हंस से,
कदापि होती न वलाक-पंक्ति से
विवेक होता बक में, मराल में,
विभाग होता जब क्षीर-नीर का।

---

[1]थाला। [2]कौआ। [3]रस्सी।

(६८)

"रजस्क[1] है केतकि ! पांडु वर्ण तू
महान ही कंटक-पंक्ति-अंकिता,
महा त्रपा-निर्गत[2] भृंग नित्य ही
तथापि सेवा करता अजस्र है।

(६९)

"प्रसिद्ध भू में शित रंग काक का,
लखा गया कोकिल श्यामवर्ण है,
वसन्त होता सजनी ! न आज जो,
विभेद होता युग जन्तु में नहीं।

(७०)

"विहार-संलग्न रसाल-कुंज में
विहंग स्वच्छन्द-चरिष्णु[3] हैं सभी;
परन्तु क्यों पंजर-बद्ध कीर है ?
अनर्थकारी मधुरा गिरा, अहो !

(७१)

"चरिष्णु है आयत-लोचना मृगी
कुरंग की भी प्रचरिष्णु दृष्टि है,
विभीत क्यों दंपति भागते, अहो !
दीयम साध्वी सखि ! तू न व्याधिनी।

---

[1]परागयुक्त। [2]निर्दय। [3]संचरण-शील।

(७२)

"अहो ! कृतारण्य[1]-पलाशि[2] ! धन्य तू
निलीन सर्वाङ्ग-परार्थ में सदा;
प्रसून, छाया, फल, मूल, दारु से
सहर्ष सेवा करता मनुष्य की।

(७३)

"प्रसून में चंदन के मिलिन्द हैं,
शयान शाखा पर भी विहंग हैं,
रसाल के ऊपर भी प्लवंग[3] हैं,
लसी प्रशाखा पर वृक्ष-शायिका[4]।

(७४)

"समुच्चता से फल-लाभ क्या हुआ ?
विनम्रता से फल-प्राप्ति क्या हुई ?
पलाश-छाया-फल[5] क्या ? अशोक ! तू
न दे सका जो फल पान्थ-पुंज को।

(७५)

"कदंब में, या अरविन्द में कभी,
कुमुद्वती में, अलि ! कुंद-कुंज में,
यथा-तथा, काल बिता अभी, कभी
प्रहृष्ट होगी मृदु आम्र-मंजरी।

---

[1]फुलवाड़ी। [2]वृक्ष। [3]बानर। [4]गिलहरी। [5]लाभ।

(७६)

"अवश्य ही किंशुक-पुष्प ! देखले
समान है तू शुक-तुंड के, सखे !
परन्तु क्या मानव-चित्त-मोहिनी
गिरा समुच्चारण में समर्थ है ?

(७७)

"चलो सखी ! राज-निवेशको चलें,
खलें[1] न आराम-विहंग-वृन्द को ;
मराल को, कोकिल, कीर को, तजें
मिलिन्द को स्वैर[2] विहार के लिए ।

(७८)

"दिगंत-आकाश-धरित्रि में जहाँ-
जहाँ सखी ! मैं निज दृष्टि डालती,
वहाँ-वहाँ भार अपार कांति का
भरा हुआ है मन मुग्ध हो रहा ।

(७९)

"पिकी विषण्णा स्वर-भार-गर्भिता—
मही लसी सौरभ-भार-गुर्विता,
स्व-कान्ति के भार विनम्र व्योम है,
सुमंद है वायु सुगंध-भार से ।

---

[1] दुःख दें । [2] स्वच्छन्द ।

(८०)

"धरित्रि भी है भृत[1] भार मे हुई,
लदी कि मैं ही उदरस्थ भार में ?
कि दिग्वधू भी शिथिला हुयी, सखी !
कि पीतिमा संयुत सूर्य्य-रश्मि है ?"

(८१)

सुविज्ञ जो थीं चतुरा सहेलियाँ
विलोक बोलीं त्रिशला ललाम से :—
"नृपालिके ! सो शुभ काल आ गया
रही प्रतीक्षा जिसकी धरित्रि को ।

(८२)

"सु-पीत गो-धूम[2] वरेणुका[3] हुई
सु-पक्व सारे हरि-मंथ[4] हो गये;
सु-धन्य राज्ञी ! अब धान्यराज[5] है
सु-वृत्त बीजा[6] परिपाक-पूर्ण है ।

(८३)

"अतः चलें राज-निवेश को अभी
[7]विलंबना है मति की विडंबना;
निसर्ग उद्भिन्न लगा विलोकने
जिनेन्द्र का संभव-काल आ गया ।

---

[1]भरी हुई । [2]गेहूँ । [3]अरहर । [4]चना । [5]जौ । [6]मटर । [7]देर करना ।

(८४)

"त्रयोदशी है मधु-मास की शुभा,
पुनीत रात्री ! यमणाख्य[1] योग है,
विधातृ[2] नक्षत्र प्रदीप्तमान है,
उदीयमाना शुभ सिंह-लग्न है ।

(८५)

"धरे हुये रत्न अमूल्य गर्भ में
कि रत्न-गर्भा अचला विराजती;
लिये हुये यों उदरस्थ पुत्र को
कि दर्शनीया त्रिशला महान तू ।"

(८६)

निविष्ट होके नव मास गर्भ में
न दुःख व्यापा उदरस्थ पुत्र को,
यथैव मुक्तागत नीर-बुंद में
विकार आता न कभी लखा गया ।

(८७)

जिनेन्द्र-माता त्रिशला ललाम की
सदा अभग्ना त्रिवली बनी रही,
यथा उषा लेकर भानु गर्भ में
अभंगिमा-युक्त लसी प्रभात से ।

---

[1] योग-विशेष । [2] रोहिणी ।

(८८)

दिनान्त-आभा अति ही प्रसन्न थी,
दिगंत में एक विभास[1] आ गया,
सुगंध के संयुत शीत वायु भी
सु-मंद हो भू-पर डोलने लगा।

(८९)

कपोत को धावित[2] श्वान ने तजा,
न सर्प ने रावित[3] भेक को भजा,
विडाल पै दाँव किया न श्वान ने,
न सिंह ने ध्यान दिया कुरंग पै।

(९०)

तुरंत लौटी त्रिशला स्व-गेह में
सनाथ[4] थीं गीत-रता सहेलियाँ;
बजे उसी काल सु-वाद्य साथ में
हुआ महाकाश-निनाद गेह में।

(९१)

"अहो! महासिद्ध, अनाथ-नाथ ही,
पधारते हैं, सब सावधान हों;
धरित्रि में केवल-ज्ञान-सूर्य्य के
प्रसिद्ध भावी उदयाद्रि आ रहे।

---

[1]उजाला। [2]दौड़ते हुये। [3]शब्द करते हुये। [4]साथ।

(९२)

"मनुष्य मिथ्या-मति-अंध-कूप में
पड़े हुये जो, उनको उबारने
पधारते हैं निज-धर्म-हस्त से
प्रकाम देने अवलम्ब विश्व को।

(९३)

"पवित्र वाणी जिनकी अजस्र ही
अनूप देगी उपदेश विश्व को;
विनाशकारी बहु-भाँति कर्म के
जिनेन्द्र हैं भूतल में पधारते।

(९४)

"प्रसिद्ध जो धर्म-प्रवृत्ति-हेतु हैं,
अपार - संसार - समुद्र - सेतु हैं,
समुच्च जो ज्ञान-अनीक[1]-केतु हैं,
पधारते हैं महि में जिनेन्द्र वे।

(९५)

"उठो, उठो, सत्वर प्राणियो! उठो,
प्रवृत्त हों आश्रित[2] जीव धर्म में;
हुआ सभी का भव[3] नष्ट विश्व में,
महान सौभाग्य उदीयमान है।

---

[1]सेना। [2]अधीन। [3]अंधकार।

[द्रुतविलंबित]

(९६)

मनुज को अति दुर्लभ सूनु है,
सुत कि जो मति-मान प्रसिद्ध हो;
श्रुति-[1]विहीन वृथा मति[2] जीव की
अवधि-ज्ञान[3]-विना श्रुति भी वृथा ।

---

[1]शास्त्र का ज्ञान । [2]इन्द्रिय-जन्य ज्ञान । [3]सुदूरवर्ती बाह्य-पदार्थों को जान सकनेवाला मर्य्यादित विशेष ज्ञान ।

आठवाँ सर्ग

[वंशस्थ]

(१)

चतुर्दशी है मधु-मास की शुभा
प्रसन्नता-पूर्ण प्रभात-काल है,
नरेन्द्र-धाम स्थित सौरि-गेह में
प्रसूत सद्धर्म-त्रिविष्टपेश[१] हैं।

(२)

महान-शारीरिक-कष्ट-सिंधु को
मुदा करेगा शिशु पार अन्त में,
विभूति देगा वह विश्व को कि जो
विनाश देगी जन-कर्म-भावना।

(३)

अनंत का यों अभिमान छोड़ के
विहाय उच्चास्पद स्वर्ग-लोक भी,
प्रसिद्ध सिद्धोचित धर्म-संपदा
समूढ़[२] हो, भू पर आज आ गयी।

---

[१]भगवान महावीर। [२]एकत्रित।

(४)

मुनीश्वरों की महिमा अपार जो,
दिगीश्वरों की सुख-धाम संपदा,
सुरेश्वरों की सब सिद्धि मूर्त हो
विराजती है त्रिशला-निकेत में।

(५)

विहाय सो शाश्वत दीप्ति स्वर्ग की
समृद्धि जो मानव-कर्म-शोधिनी
स-देह अंगीकृत जीव-विक्रिया
विशुद्धि आयी वसुधा-विभासिनी।

(६)

"अतः इले, ईश्वरि, वर्ण-मातृके[1]!
अनूप वाक्येश्वरि! क्या न तू शुभे!
अभी धरेगी कुछ छन्द भेंट में
त्रिलोक उत्कोच[2]-प्रदान-मग्न है।

(७)

"अभी न आयी रवि-रश्मि व्योम में
प्रभात-तारे नभ हैं न त्यागते,
उठी उषा केवल प्रार्थनार्थ है,
प्रकाश दे तू निज काव्य-ज्योति का।

---

[1]सरस्वती के (सब) नाम। [2]भेंट।

(८)

"न आ सके अंबर में दिनेश. या
न पा सके पार्श्व उषा प्रसूत[1] का
तुरन्त आ तू प्रतिभे! म-प्रेम ही
संगीत गा विश्रुत वर्द्धमान का।"

(९)

पुनीत प्यारा ऋतुराज-काल था,
प्रभात का दिव्य प्रकाश छा गया,
नृपालिका की अँकवार[2] में लसा
सुपर्व-संमोहन दिव्य पुत्र था।

(१०)

निसर्ग ने संसृति-नाथ के लिए
खिला दिये पुष्प-समूह सर्वथा;
त्रिलोक-भाग्योदय-सूचनार्थ ही
दलों-फलों से लद वृक्ष भी गये।

(११)

तड़ाग में उन्नत हो उरोज से
सरोज के वृन्द विराजमान थे,
सरोजिनी ने जिनको स-लज्ज हो
ढका दलों से निज नग्नता छिपा।

---

[1]उत्पन्न (पुत्र) का। [2]गोद।

(१२)

त्रिलोक-स्रष्टा निज नेत्र से नहीं
विलोक पायें महि की कुरूपता,
इसीलिए किंशुक[1] ने स्वभाव से
अहो ! छिपा ली वन की स्थली सभी ।

(१३)

विलोक संक्रान्ति-समेत रोदसी,
स-चेत सर्वेश्वर ने स्व-दूतिका—
प्रशान्ति भेजी द्रुत अंतरिक्ष से,
तुरन्त दी शान्ति धरित्रि-व्योम को ।

(१४)

प्रशान्ति सर्वेश-नियोग[2]-तत्परा,
चली उषा के घन बेधती हुई,
स-वेग आयी महि मे विवर्तिनी
प्रशान्त संसार हुआ प्रभाव से ।

(१५)

न युद्ध था और न शंख-नाद था,
समस्त हिंसा मिट विश्व से गयी;
पड़े हुए आयुध शक्ति-हीन थे,
विहीन ह्लेषा[3]-रव थी पताकिनी[4] ।

---

[1]पलाश । [2]आज्ञा । [3]घोड़े का शब्द । [4]सेना ।

(१६)

विषाण भी सम्यक् शब्द-हीन थे.
तुरंग भी स्यंदन से विहीन थे,
नृपाल सारे रण-रिक्त पीन थे.
समस्त सर्वेश्वर-भक्ति-लीन थे।

(१७)

प्रशान्ति-साम्राज्य-प्रसार भूमि में
जभी किया केवल-ज्ञान-भूप ने,
प्रशान्त-व्योम-स्थित-ऋक्ष-वृन्द थे,
नितान्त थी शान्ति-मयी विभावरी।

(१८)

सभी समुद्वेलित[१] नीर-वीचियाँ,
छुयी गयीं वेग-विहीन वायु से,
प्रशान्ति से संभृति[२] चंद्रिका हुई
तथा असंभ्रान्त समुद्र हो गया।

(१९)

महान आश्चर्य्य-समेत व्योम में
बनी रही निश्चल तारकावली,
हिली नहीं स्वीय प्रकाश-अक्ष से,
गयी नहीं पश्चिम दिग्विभाग में।

---

[१]उच्छल। [२]भरी हुई।

(२०)

प्रभात के यद्यपि सूर्य्य-देव ने
उन्हें भगाया बहुधा स्व-रश्मि से,
परन्तु तारे गति-हीन ही रहे,
हटे न आज्ञा तक देव-देव की ।

(२१)

प्रकाश ने यद्यपि अंधकार को
भगा दिया नष्ट हुई विभावरी,
परन्तु पूषा[1] उदयाद्रि पै रुका
न व्योम-गामी रथ पै सवार था ।

(२२)

विकास के सम्मुख कोटि-भानु के
प्रकाश था तुच्छ सहस्र-भानु का,
महान लज्जा-वश हो इसीलिए
छिपा लिया आनन विश्व-चक्षु[2] ने ।

(२३)

सुवृत्त[3] हो तस्कर-वृत्ति त्याग के
प्रशान्त बैठे घर चौर-वृन्द थे,
उठे सभी स्वागत के लिए तभी
प्रसन्न हो मानव-कर्म-चौर के ।

---

[1]सूर्य्य । [2]सूर्य्य । [3]अच्छे आचरण वाले ।

(२४)

नृपाल-कारागृह में पड़े हुये
स्व-मुक्ति आशा-पथ जोहते हुये;
समस्त बंदी करते प्रणाम थे
प्रसन्न हो विश्व-विमुक्ति-हेतु को।

(२५)

इसी घड़ी दिव्य-संगीत स्वर्ग से,
पुरा सुना जो न गया मनुष्य से,
लगा सभी की श्रुति[1] को सुहावना
सहस्र-वीणा-मय अंतरिक्ष में।

(२६)

सभी नरों ने मन-मुग्ध हो सुना,
सरीसृपों ने विष त्याग के सुना,
समीर ने भी प्रतिशब्द से उसे
किया अनुप्राणित भाँति-भाँति से।

(२७)

निसर्ग था विस्मित हृष्ट[2] सर्वतः,
धरित्रि रोमांचित हो उठी सभी,
कृतार्थ ऐसे सब लोक हो गये
कि धन्य थे स्थावर-जंगमादि भी।

---

[1]कान। [2]आनंदित।

(२८)

समस्त भू में, भुव में न स्वर्ग में,
विविक्ति[1] थी अंतिम दिव्य गान की।
त्रिलोक एकत्रित हृष्ट-चित्त हो
असंख्य-कर्णान्वित हो गया तभी।

(२९)

पुनश्च विद्याधर किन्नरादि भी
सुदिव्य-संगीत-निमग्न-चित्त हो,
स्वकीय तेजोमय रम्य-राग में
लगे भगाने तम जीव-लोक का।

(३०)

स-हर्ष रंभा, अतिमुग्ध मेनका,
नृपाल-धामांगन-मध्य उर्वशी,
प्रहर्षिता नृत्य-कला-विशारदा
स-वाद्य-गीतान्वित नाचने लगीं।

(३१)

"समस्त संगीत अभूत-पूर्व है,
अभावि है," उन्मद[2] इन्द्र ने कहा;
समस्त तारे सुन नीर-बुन्द-से
समा गये सूर्य्य-समुद्र में तभी।

---

[1] शून्यता। [2] उन्मत्त।

(३२)

न मेदिनी चंचलता निभा सकी,
यथार्थ-नाम्नी अचला बनी रही,
पयोधि की चंचल वीचियाँ सभी
नितान्त ही स्थैर्य्य-युता लखा पड़ीं।

(३३)

दिनेश, राकेश, समस्त तारको !
स्वकीय संगीत हमें सुनाइए।
स-नृत्य हो वासर-यामिनी सदा
परिक्रमा हो करते जिनेन्द्र की।

(३४)

समस्त ताल-स्वर के घनत्व से
करो गुणीभूत विविक्त[1] व्योम को,
तुम्हीं तपस्या-रत अंतरिक्ष में
सदा सपर्य्या रचते जिनेन्द्र की।

(३५)

संगीत ऐसा, चिरकाल से जिसे
रही सुनाती-सुनती वसुंधरा,
पुनश्च लौटा शुभ-काल-लब्धि से,
स-हर्ष देगा युग स्वर्ण का हमें।

---

[1]शून्य।

(३६)

समस्त-मिथ्या-मत नष्ट-भ्रष्ट हो
विलीन होंगे इस जीव-लोक में,
समाज में जो अघ-ओघ व्याप्त हैं,
न वे रहेंगे क्षण-एक के लिए।

(३७)

प्ररोह होगा फिर सत्य-न्याय का,
तथा दया का अवतार विश्व में,
पुनः अहिंसा वर-वर्णिनी शुभा
सुदृष्ट होगी नव-इन्द्र-चाप-सी।

(३८)

क्षमा-समायुक्त पयोद-पुंज पै
चढ़ी स्व-पादोज्झित[1] धर्म-संपदा,
खुले अभी हैं यह देव-लोक के
निवेश के द्वार-कपाट भी नहीं।

(३९)

परन्तु बोला अति उच्च शब्द में
मनुष्य-सौभाग्य, "अभी नहीं, नहीं;
रुको, रुको, रंच विलंब है अभी
अबोध हैं, बालक वर्द्धमान हैं।

---

[1] चरणों से उछाली हुई।

(४०)

"इन्हें सभी कर्म-विपाक नाशना,
परीषहों[1] के दृढ़ बंध तोड़ना,
तथा परीक्षा खल कामदेव की
अवश्य देना अवशेष है अभी।"

(४१)

भविष्य-वाणी इस भाँति की हुई
प्रसुप्त प्राणी सुन जागने लगे।
अनूप-संध्येश्वरि[2] बोलती हुई
तुरंत अंतर्हित मेघ में हुई।

(४२)

परन्तु डोली वसुधा स-भीत हो,
विभीत हो दिग्गज काँपने लगे,
पुनः हुआ सो प्रतिशब्द व्योम में
"अभी न निःश्रेयस है, मुक्ति है।

(४३)

"अभी हिलेगी धरणी प्रकंप से,
अभी फटेगा नभ घोर घात से,
अभी महा-सिद्ध-शिलाधिरूढ़ हो
जिनेन्द्र देंगे नव धर्म-संपदा।

---

[1]साधना-कालमें आनेवाले प्रत्यूह। [2]सरस्वती।

(४४)

"अघाख्य[1] दर्पी अहि की प्रशान्ति भी
अवश्य होना अवशिष्ट है अभी,
अपूर्ण आशीविष[2] काल-कूट से
प्रपूर्ण देता भय जो त्रिलोक को।"

(४५)

भविष्य-वाणी सुन अंतरिक्ष की
समस्त मिथ्या-मत भागने लगे,
अतथ्य ज्योतिर्विद मूक हो गये,
असत्य-भाषी फलितज्ञ मौन थे।

(४६)

सदैव हिंसा-प्रिय वाम-मार्ग के
गये प्रचारी सब भाग भूमि से,
कु-ग्रन्थ ले ले निज वाम-कुक्षि में
किसी गुफा में गिरि की समा गये।

(४७)

स्वतंत्र जो मांत्रिक[3] दुष्ट धर्म के
रचा रहे थे वध जीव-जन्तु का
सभी अघी वे तज हेति[4] हस्त से
छिपे कहीं भैरव-चक्र त्याग के।

---

[1]अघ नाम का। [2]सर्प। [3]मंत्रज्ञ। [4]हथियार।

(४८)

निशेश के सम्मुख अंधकार ज्यों,
दिनेश के सम्मुख भूत-प्रेत ज्यों,
जिनेश के सम्मुख वाम-कर्म[1] त्यों
चला गया शीघ्र पलायमान हो।

(४९)

नरेश के प्रांगण[2]-मध्य प्रात से
मृदंग-वीणा-ढक-मोरचंग ले
संगीत में गायक-गायिका लसे
स्व-नृत्त में नर्तक-नर्तकी पगे।

(५०)

नृपाल - आनंद - समुद्र - वीचियाँ
तुरन्त फैलीं सब ग्राम-ग्राम में,
सभी प्रजा हो मुदिता इतस्ततः
जिनेन्द्र-जन्मोत्सव थीं मना रही।

(५१)

हिरण्य, हीरा, हय, हस्ति, हेम ले
नृपाल थे याचक-वृन्द तोषते;
स्व-सेवकों को बहु दान-मान दे
अनाथ को भी करते स-नाथ थे।

---

[1] वाम-मार्ग के कर्म। [2] आँगन।

(५२)

ध्वजा, पताका, स्रग, तोरणादि से
सजा हुआ मंदिर भूमि-पालका
प्रतीत था गायन-नृत्य-वाद्य से
धरित्रि में संस्थित नाक[१]-लोक-सा।

(५३)

महा-समारोह-मयी सभा लगी
जुड़े कलाकार नृपाल-राज्य के,
दिखा दिखा वे अपनी विशेषता
सभी मनोरंजन में निमग्न थे।

[द्रुतबिलंबित]

(५४)

यह समुत्सव आनन्द-उत्स[२] को
प्रबल था करता इस भाँति से
जिस प्रकार सु-मूल्य सुवर्ण का
शुचि-सुगंध बढ़ा सकती सदा।

[वंशस्थ]

(५५)

उसी घड़ी नर्तक एक आ वहाँ
दिखा चला कौशल स्वीय नृत्य का,
जिनेन्द्र-जन्मोत्सव-दृश्य बाँध के
सभी किये नाटक पूर्व-जन्म के।

---

[१]स्वर्ग। [२]झरना।

(५६)

प्रतीत हो नर्तक कल्प-वृक्ष-सा
बिखेरता था बहु दृश्य-पुष्प सो
युगांघ्रियाँ[1] नर्तित रंग-भूमि में
विमान को भी करती विमान[2] थीं।

(५७)

पुनश्च पुष्पांजलि को बिखेरता
हुआ मुदा तांडव-नृत्य-लीन सो,
अपूर्व था नर्तन पूर्व-रंग का
तथैव थी अद्भुत नाट्य-प्रक्रिया।

(५८)

स्व-नेत्र-विक्षेप-समेत नर्तकी
सहायिका थी नट-नृत्य-पूर्ति में,
स-वेग संचालित हस्त-पाद से
पुनः पुनः नर्तन-दत्त-चित्त थी।

(५९)

कभी दिखाती बहु-रूप-विज्ञता,
कभी लगाती बहुताल योषिता,
कभी घुमाती घन घाँवरा, तथा
कभी मुदा भूषण[3] ही बजा रही।

---

[1]दोनों जंघाएँ। [2]मान-हीन। [3]घुँघरू।

(६०)

वसुंधरा के, बहु अंतरिक्ष के
सुदृश्य नाना विधि से दिखा रही,
नटी-नटों के सँग नाचती हुई
लसीं सुरों के सँग देवियाँ वहाँ।

(६१)

जिनेन्द्र-जन्मोत्सव-योजना महा,
न पार पाती जिसका सरस्वती,
अनूप से वर्णन देव-देव के
धरित्रि में आगम का अशक्य है।

(६२)

सभी सभा उत्सुक हो उठीं, तभी
जिनेन्द्र-संदर्शन-लालसा जगी,
नृपाल-आज्ञा-वश-वर्ति भृत्य भी
गया महाराज्ञि-निकेत को मुदा।

(६३)

वहाँ विलोका शिशु धाय-वृन्द से
स-प्रेम-संपोषित खेलता हुआ
अनेक क्रीडा-कृत[1] वस्तुएँ वहाँ
रमा रही थीं नवजात बाल को।

---

[1]की।

(६४)

प्रसन्न था आनन श्री जिनेन्द्र का,
सुवर्ण-आभूषण हस्त-पाद में,
किये हुये धारण दिव्य वस्त्र वे
अजस्र दोलायित[1] हो रहे सुखी ।

(६५)

प्रसन्न-आस्या त्रिशला समीप ही
सराहती थी निज भाग्य-संपदा,
निदेश पाके नृप-भृत्य का तभी
चली मुदा ले शिशु स्वीय अंक में ।

(६६)

गयी वहाँ पै अति ही प्रसन्न सो,
सुखांक में बालक खेलता हुआ,
जिसे सभा उत्थित हो विलोकने
लगी मुदा नेत्र-निमेष-हीन हो ।

(६७)

अपूर्व था बालक गौर रंग का,
कपोल दोनों ऋतुराज-पुष्प[2]-से,
लसे खिलौने कर में सुवर्ण के
अजस्र-संचालित पाद-युग्म थे ।

---

[1]झुलाया जाता हुआ । [2]गुलाब ।

(६८)

मनोरमा आनन की प्रसन्नता
अवर्णनीया छवि-युक्त सोहती,
अनूप सद्यागत[1] स्वर्ग की प्रभा
प्रतीत प्रत्यंग विराजती हुई।

(६९)

नृपाल के नेत्र-समान नेत्र थे
लसी, अहो! भौंह-समान भौंह भी,
परन्तु शोभा हनु[2]-ओष्ठ-भाल की
विराजती थी त्रिशला-मुखाब्ज-सी।

(७०)

जिनेन्द्र के आनन-चन्द्र में लसी
मनोरमा सु-स्मित-चंद्रिका-प्रभा,
प्रसन्न हो सर्व-सभा-समुद्र का
प्रवृद्ध था मानस-तोप-नीर-सा।

(७१)

विलोक बोला द्रुत एक साधु, जो
महा वयोवृद्ध तथा सु-विज्ञ था,
"नृपाल! लोकोत्तर[3] पुत्र आपका
अपूर्व होगा बल-कीर्ति-धर्म में।

[1]अभी आये हुये। [2]ठुड्डी। [3]अलौकिक।

(७२)

"हुआ स्वयं-संस्कृत भूमि-भाग्य से,
समस्त-संस्कार-प्रसाधना वृथा।
शरीर की उत्तम लक्षणावली
बता रही बालक सिद्ध-रूप है।

(७३)

"स्वयं सिखेगा यह बोलना, प्रभो!
स्वयं पढ़ेगा, गुरु खोजना वृथा,
स्वयं रखेगा निजनाम विश्व में,
स्वयं रचेगा नव धर्म-योजना।

(७४)

"विलोकिये, बालक के मुखाब्ज में
मनोरमा कोमल भावना भरी,
रहस्य-संयुक्त प्रसन्नता तथा
प्रशंसनीया मुसकान-मंजुता।

(७५)

"समस्त स्वर्लोक-निविष्ट देवता
महीप! रक्षा शिशु की किया करें,
प्रभूत-सौभाग्य-प्रपूर्ण[1] भाल पै
अजस्र वर्षा वरदान की रहे।

---

[1]अपने ही संस्कारों से सिद्ध।

(७६)

"मनोरमा स्वर्कलिका[1] सु-कोमला
प्रभो ! गिरी है त्रिशला-सुखांक में,
कि सद्य फूले, अभिताभ हो फले,
मनुष्यता को रस दे स्व-धर्म का ।

(७७)

"विभूति दैवी चल स्वर्ग-लोक से
यहाँ पधारी दृग-सौख्य-दायिनी,
विलोकिये, स-स्मित आस्य पुत्र का
कि संपदा स्वर्गिक मूर्तिमान है ।

(७८)

"चिरायु हो, हे शिशु ! तू स्वदेश का
प्रसिद्ध हो भूप, कुटुम्बवान हो,
प्रसन्न तेरे वदनारविन्द पै
झरे मुदा देव-प्रसाद[2] सर्वदा ।

(७९)

"कुमार ! तू जीवन-द्वार पै खड़ा
अतीव छोटे कर क्यों हिला रहा !
भविष्य के या कि कपाट खोलता,
कि स्वर्ग को इंगित[3] से बता रहा ।

---

[1]स्वर्ग की पुष्प-कली । [2]प्रसन्नता । [3]इशारा ।

(८०)

"कुमार ! तू चंचल नेत्र से मुदा
विलोकता क्या, यह तो बता मुझे,
अलेख्य है जो इतिहास विश्व का
रहस्य या जो अवगाह्य[1] भी नहीं।

(८१)

"कुमार ! तू आनन में अँगुष्ठ दे
कि सोचता है वह प्रार्थना, जिसे
तुझे पढ़ाया कल था सुरेन्द्र ने
धरित्रि में आकर भूल-सा गया।

(८२)

"त्वदीय आशा, त्रिशले ! सुभाग्य, या
कुटुम्ब-आनंद, स्वराज्य-संपदा,
त्रिलोक का प्रेम, प्रभाव धर्म का
कुमार के जीवन-मध्य मूर्त हैं।

(८३)

"नृपाल ! जानो, शिशु गेह-दीप है,
कि छद्म-वेषी[2] प्रभु-मूर्ति ही यही,
दिनेश के अंशु सुवर्ण केश में,
निशेश की रश्मि मुखारविन्द में।"

---

[1]थाहने योग्य। [2]कपट-वेषी।

(८४)

पवित्र वाणी सुन वृद्ध देव की
विनम्र माता शिशु-देह पै झुकी,
कहीं लगे दृष्टि न पुत्र को, अतः
निवेश को ले त्रिशला चली गयी।

(८५)

निकेत के प्रांगण में अजस्र ही
समस्त सेवा नव-जात बाल की
स-प्रेम लाती रहतीं सहेलियाँ,
अहर्निशा पालन में प्रसक्त[1] थीं।

(८६)

प्रमोद-दाता सित-पक्ष-चंद्र-सा
शनैः शनैः वर्द्धित पुत्र-आस्य को
विलोकते ही अति गाढ़ प्रेम से
चकोर-से लोचन मातृ के बने।

(८७)

शनैः शनैः बालक वर्द्धमान के
मुखाब्ज से निःसृत भारती[2] हुई
विशुद्ध वाणी सुन भूमिपाल भी
महान आश्चर्य्य-समेत खो गये।

---

[1]संलग्न। [2]वाणी।

(८८)

शनैः शनैः वर्द्धित[1] वर्द्धमान के
पड़े धरा पै पद-युग्म धाम में,
विलोक आभूषण रत्न से जड़े
स-तर्क तारे स्थिर व्योम में हुये ।

(८९)

शनैः शनैः विश्व-पदार्थ-ज्ञान भी
अदोष-सम्यक्त्व[2]-समेत आ गया,
शनैः शनैः राजकुमार की तभी
स्वभावतः सात्त्विक बुद्धि भी बढ़ी ।

(९०)

शनैः शनैः सर्व-कला-अभिज्ञता
कुमार को थी हृदयंगमा हुई,
समस्त - विद्या - जिन-धर्म - धारणा
शनैः शनैः ज्ञात हुई स्वयं उन्हें ।

(९१)

न काल जाते लगता बिलंब है,
शशी गया तो दिन-नाथ आ गये,
तुरन्त बीते बहु-पक्ष-मास यों
कि देव को अष्टम वर्ष भी लगा ।

---

[1]बढ़ते हुये । [2]सम्यक् भाव ।

(९२)

कुमार - स्वाभाविक - लक्षणावली
विमोहती दर्शक-वृन्द-चित्त थी,
प्रतप्त-हेमाभ[१] शरीर देख के
हुआ सुराधीश सहस्र-नेत्र का ।

(९३)

चतुर्दिशा दीपक के पतंग ज्यों,
समंततः पंकज के मिलिन्द ज्यों,
तथैव चारों दिशि वर्द्धमान के
घिरे हुये थे तन-गुप्त[२] देवता ।

(९४)

प्रसन्नता, सुन्दरता, सुभाग्यता,
नृपाल के आँगन में प्रफुल्ल थीं,
विमुग्धता, चंचलता, मनस्विता,
कुमार-सेवा करती अजस्र थीं ।

(९५)

"मदीय आशा, मम भाग्य-संपदा,
मदीय तू प्रीति, मदीय मुग्धता[३],"
इन्हीं स्वरों में त्रिशला अहर्निशा
कुमार को थी सहसा पुकारती ।

---

[१]तपे हुये सुवर्ण की शोभा वाला । [२]कपट-वेषी । [३]प्रसन्नता ।

(९६)

नरेश-गेह-स्थित ग्रीष्म-काल का
अदीर्घ होता दिन शीतकाल-सा;
प्रसन्नता आयत[1] शीत-काल की
बना रही थी निशि ग्रीष्म-काल-सी ।

[द्रुतविलंबित]

(९७)

हृदय की प्रति-मूर्ति बहिर्गता
भवन की सुषमा, छवि ईश की,
तनय हो अवतीर्ण[2] हुई, अहो !
शुभ-विदेह-धराधिप-धाम में ।

---

[1]दीर्घ । [2]उतरी ।

नवाँ सर्ग

[वंशस्थ]

(१)

शनैः शनैः अष्टम वर्ष भी गया;
कुमार पौगंड[1]-दशाधिरूढ़ थे,
प्रभूत-शारीरिक-कान्ति-युक्त वे
पवित्र वाणी-मन-कर्म से बने।

(२)

विभूषणों से, व्रत-शील-आदि से,
सभी गुणों से परिपूर्ण शोभते,
समस्त विज्ञान, सभी कला उन्हें
अवाप्त हस्तामलकत्व[2] को हुईं।

(३)

सभी सखा-संग कुमार एकदा
चले, गये बाहर खेलते हुये;
निदाघ[3] का उष्ण प्रभात-काल था,
अरण्य था सुन्दर राजता हुआ।

---

[1]पाँच से दश वर्षकी अवस्था। [2]हाथ में आँवलेके समान।
[3]ग्रीष्म-ऋतु।

(४)

सदावगाहक्षत[1] वारि-राशि में
प्रचंड थे भानु सहस्र-भानु के,
नितान्त दुष्प्रेक्ष्य[2] प्रतप्त व्योम था
महान-कोपाकुल-भूप-आस्य-सा ।

(५)

कहीं घने भू-रुह नीप[3] क तले
मयूर बैठे दिन काटते लसे,
कहीं किसी शाद्वल[4] में विराजते
कुरंग थे संग कुरंगिनी लिये ।

(६)

अरण्य के माहिष पंक जान के
स्वकीय छायाश्रय ढूँढ़ने लगे,
अलक्त गुंजा लख रक्त-बुन्द-सी
स-भ्रान्ति थे वायस चंचु डालते ।

(७)

करेणु[5] खाता फल सल्लकी मुदा,
वरेणुका[6] थी उसको खिला रही,
समीप ही वारण गर्जते हुये
बना रहे कानन शब्द-युक्त थे ।

---

[1]सदा नहाने के कारण उच्छल । [2]कठिनता से देखा जान वाला । [3]तमाल । [4]हरी-भरी भूमि । [5]हाथी का बच्चा । [6]हथिनी ।

(८)

प्रचंड-मार्तण्ड-प्रताप-पुंज से
विभीत हो हंस सरोज के तले
स-ताप ले शीत मृणाल[1] चंचु में
बिता रहे थे दिन ग्रीष्म-काल के ।

(९)

कहीं-कहीं हंस तड़ाग-तीर पै,
महान गंभीर जहाँ कमन्ध[2] था,
वहीं प्रसन्ना ध्वनि थे सुना रहे
विलासिनी-नूपुर-तुल्य मंजुला ।

(१०)

कहीं दुखी-चित्त-प्रतप्त थी धरा,
कहीं मही थी खल-वाक्य-दाहिनी,
परन्तु धात्रीरुह[3]-पाद-मूल को
अपांसुला-सी तजती न छाँह थी ।

(११)

अरण्य गंभीर अशब्द से कहीं,
कहीं महाक्रोश[4]-युता वनस्थली,
कहीं महा घर्म-प्रतप्त मेदिनी,
कहीं धरा शीतल नीप-छाँह में ।

---

[1]कमल-नाल । [2]जल । [3]वृक्ष । [4]शब्द, हल्ला ।

(१२)

कहीं लसी पान्थ-वधू-समान ही
स-दीनता पुष्करिणी दिगन्त में,
अ-घास[1] श्वेतांबर थी मही कहीं,
अगावली पत्र-बिना दिगंबरा।

(१३)

जिनेन्द्र बोले, "सहचारियो ! लखो,
असह्य कैसी गुरु ग्रीष्म-ताप है,
अरण्य मानों वृष-भानु[2]-ताप से
बना तवा-सा अति ही प्रतप्त है।

(१४)

"घटी प्रतप्ता सह-चारिणी बनी,
स्फुलिंग-सेना सह-धर्मिणी लसी,
समस्त-धात्री-विजगीषु[3]-वृत्ति से
प्रचंड ग्रीष्मर्तु बढ़ी भयावनी।

(१५)

"प्ररूढ़ हो कीर्ति-प्रताप-पक्ष पै
पतंग[4] का सार्थक नाम हो गया,
प्रकाश का आदिम स्रोत पूर्व से
त्विषा-महा-द्वीप अनंत में बढ़ा।

---

[1]बिना घास की। [2]वृष-राशि के सूर्य्य। [3]जीतने की इच्छा वाली।
[4]सूर्य्य - (पतंग)

(१६)

"प्रकाश का केन्द्र, प्रदीप्ति का धुरा,
त्रिलोक-चूड़ामणि वार-नाथ[1] है,
प्रचंड होता जब वन्य भूमि में
दवाग्नि-साम्राज्य प्रसारता यही।

(१७)

"सखे! विलोको वह दूर सामने
प्रचंड दावा[2] जलता अरण्य में,
चलो, वहाँ के खग-जीव-जन्तु को
सहायता दें, यदि हो सके, अभी।

(१८)

"प्रचंड दावानल की शिखा यथा
प्रलंब है धूम नगाधिराज-सा,
अवश्य कोई वन-बीच दुःसहा
महान आपत्ति उपस्थिता हुई।

(१९)

"मनुष्य, पक्षी, कृमि, जीव, जन्तु की
सदैव रक्षा करना स्व-धर्म है,
अतः चलो कानन में विलोक लें
कि कौन-सी व्याधि प्रवर्द्धमान है।"

---

[1]सूर्य्य। [2]वनाग्नि।

(२०)

जिनेन्द्र-गंभीर-गिरा सुनी जभी
चले सभी शीघ्र धँसे अरण्य में,
जहाँ बृहत्काय कृपीट[१]-सा खड़ा
सरीसृपाधीश समुच्च शैल-सा।

(२१)

सहस्र-भोगी[२] द्वि-सहस्र नेत्र का
दृगश्रवा[३]-जृम्भित[४]-आस्य देख के
समस्त साथी भयभीत हो उठे,
तुरन्त भागे वन में इतस्ततः।

(२२)

मनुष्य को जीवन-भीति स महा
कठोर है मृत्यु-विभीषिका सदा,
विभीत ऐसा द्रुत भागता, कि है
क्षण-प्रभा आकर पाँव चूमती।

(२३)

निबद्ध होता पद है विभीत का
विराव होता अवरुद्ध कंठ में,
विभीषिका-संवृत[५] नेत्र-पुतली
विलोक पाती जल को न भूमि को।

---

[१]धुआँ। [२]सहस्र फनवाला। [३]दृग ही हैं कान जिसके, सर्प।
[४]... [५]घिरी हुई, बन्द।

(२४)

स-त्रास साथी सब भागने लगे
पुकारते, "देव, हमें बचाइए,"
त्रिलोक में एक विभीति ने पुरा
न की समुत्पन्न सुपर्व-कल्पना ?

(२५)

परन्तु साथी अधिकांश मौन थे,
अवाक पीतानन शून्य-संज्ञ-से,
कि मूक पाषाण-मयी विमूर्ति थे
कि मूर्त थे प्रस्तर[1] प्राण-युक्त वे।

(२६)

बता रहा था भय कंप ओष्ठ का,
न शुष्क जिह्वा उनकी चली कभी,
सुपर्व भेजें जब भीष्म[2] दृश्य तो
सखे ! मनुष्योचित कर्म भीति है।

(२७)

जिनेन्द्र बोले तब, "साथियो, सुनो !
विभीत होना तुमको न चाहिए;
न जानते क्या तुमसे सभीत हो
समुच्च-भोगी अहि-तर्क-युक्त है।

---

[1]पत्थर। [2]भीषण।

(२८)

"न आत्म-विश्वास तजो कभी, सखे !
समुच्च-शोभी शिर आपका रहे,
जिसे न आँधी बल से झुका सके,
जिसे न पानी जव[1] से बहा सके।

(२९)

"मनुष्य जो साहसवान वे कभी
विभीत हों दु:ख-विपत्ति से नहीं,
विभीषिका का बढ़ सामना करें,
डरें न आपत्ति, व्यथा, विषाद से।

(३०)

"मनुष्य जो पूर्ण अभीत-चित्त हो
सदैव आगे बढ़ता अदम्य है,
कदापि शंका करता न साहसी
कि नष्ट होगी न विपत्ति की घटा।

(३१)

"अतः न भागो, भयभीत साथियो !
करो सभी संचय स्वीय शक्ति का,
स-भीत पाता गति नारकी सदा,
अभीति स्वर्ग-प्रद है मनुष्य को।

---

[1]वेग।

(३२)

"जहाँ अकस्मात विपत्ति के लिए
सखे! प्रतीकार अवश्य कार्य[1] हो,
वहाँ अविश्वास अधर्म-मात्र है,
सुविज्ञता भी अति घोर मूर्खता।

(३३)

"विभीत होना न सतर्कता, सखे!
धनी स-कार्पण्य न मित-व्ययी कभी,
अतः तुम्हें कायरता अयोग्य है,
अयुक्त प्रत्यूह[2] विलोक भागना।

(३४)

"सहायता भी मिलती सुरेन्द्र से
उसे कि जो साहस-पूर्ण वीर हो,
धरित्रि में अध्यवसाय के बिना
न जीव कोई गति उच्च पा सका।

(३५)

"विभीति के कंटक में, विलोक लो,
सुरक्षिता कीर्ति-गुलाब की कली।
विधेय[3] हो जो चुनना उसे, वही
सुमित्र! आवे मम संग शीघ्र ही।"

---

[1]करने योग्य। [2]विघ्न। [3]करने योग्य।

(३६)

जिनेन्द्र ने यों कह मित्र-वर्ग से
स-दर्प बाँधी कटि, सामने बढ़े,
जहाँ खड़ा था भुजगेश[१] शैल-सा
अजिह्म जिह्वा द्वि-सहस्र खोल के ।

(३७)

अलक्त गुँजा[२]-सम नेत्र क्रोध में,
कराल नासा-पुट धूम[३] छोड़ते,
स्फुलिंग-माला मुख से निकालता
खड़ा हुआ काल-कराल सर्प था ।

(३८)

स-वेणु जैसे अहि-तुंड गारुडी[४]
करे वशीभूत भुजंग-राज को
किया उसी भाँति जिनेन्द्र ने उसे
नितान्त काकोल[५]-विहीन दीन भी ।

(३९)

कहा, "चला जा इस वप्र-छिद्र में,
पुनः न आना अब तू अरण्य में,
समूह जो स्थावर-जंगमादि के
शरण्य मेरे सब आज से हुये ।"

---

[१]सर्पराज । [२]घुँघची । [३]धुआँ । [४]सर्प-पकड़ने वाला । [५]विष ।

(४०)

उसी घड़ी से जग में जिनेन्द्र की
सुकीर्ति फैली जन-चित्त-मोहिनी,
न नाम से केवल वर्द्धमान के,
सभी महावीर पुकारने लगे।

(४१)

विलोक प्रज्ञा-बल-कीर्ति-धैर्य्य को,
सराह श्रद्धा-मय ज्ञान-ध्यान को,
निहार अव्यर्थ-प्रभाव प्रेम को,
जिनेन्द्र की संस्तुति की त्रिलोक ने :—

(४२)

"दुखी हुये संप्रति[1] जीव-लोक को
महान आनंद-प्रदान-हेतु ही
प्रभो ! हुये हो अवतीर्ण विश्व में,
महा-सुधा-दीधिति-बाल-चंद्र से।

(४३)

"अनन्य-स्वामी तुम हो त्रिलोक के
न भूप के ही, चरमेन्द्र के, प्रभो !
अतः प्रणेता[2] बन धर्म-तीर्थ के
प्रतीत साकार विरंचि आप हों।

---

[1]इस समय। [2]नेता।

(४४)

"प्रभो ! सदा रक्षक भव्य जीव के,
विमुक्ति-नारी-पति विश्व-ख्यात हो,
प्रसिद्ध होगे उदयाद्रि सत्य ही
त्रिलोक में केवल-ज्ञान-सूर्य्य के।

(४५)

"सुविज्ञ ! मिथ्यामत-अंधकूप में
पड़े हुये कातर जीव-लोक को
सदा सहारा निज धर्म-हस्त का
दिया करोगे भव-मुक्ति-हेतु ही।

(४६)

"सुधी ! तुम्हारी सुन दिव्य भारती[1]
विमोह को त्याग, पवित्र भाव से
तिलांजली दे निज दुष्ट कर्म को
विमुक्त होंगे जन धर्म-मार्ग में।

(४७)

"प्रभो ! तुम्हीं धर्म-प्रवृत्ति-हेतु हो,
अपार-संसार समुद्र-सेतु हो,
प्रसिद्ध तीर्थंकर नाम से सदा
हुये समुत्पन्न विपन्न-त्राण[2] हो।

---

[1]वाणी। [2]दुःखी के रक्षक।

(४८)

"विभो ! हमारा शतशः प्रणाम है,
समक्ष प्राणी नत-शीर्ष आपके,
सदैव आज्ञा-वश-वर्ति जीव को
विमुक्ति का आस्पद[1] दो, दयानिधे !

(४९)

"मनुष्य जो इच्छुक सिद्धि-शान्ति के
सदा लहेंगे वह सौख्य मुक्ति के,
विमोह-आशीविष[2] से गृहीत को
सुधा-समा है भवदीय भारती।

(५०)

"वहित्र रत्न-त्रय से लदा हुआ,
मयूख जो आत्म-प्रकाश का सदा,
प्रदान-कर्ता गुरु-ज्ञान-भाव का,
प्रसिद्ध होगा भवदीय रूप यों।

(५१)

"हुये समुत्पन्न नृ-लोक में, प्रभो !
परार्थ-सिद्ध्यर्थ-समर्थ-भाव से।
विमोक्ष के साधन जीव-लोक के,
सदा समाराधन स्वर्ग्य-लाभ के।

---

[1]स्थान। [2]सर्प।

(५२)

"तुम्हीं विजेता मद-मोह-मान के,
अचूक नेता तुम आत्म-ज्ञान के,
विमोक्ष-दारा-पति, देव ! सर्वथा,
प्रदान कल्याण करो त्रिलोक को ।

(५३)

"स्वभाव से आप पवित्र-देह हैं,
स-देह हैं किन्तु सदा विदेह हैं,
समस्त जीवों पर आपकी, प्रभो !
अहेतुकी[1] है करुणा कृपा-निधे !

(५४)

"विभो ! प्रशंसा करते न आपकी
कि प्राप्त हो भूरि त्रिलोक-संपदा,
परन्तु दातव्य परेश ! आपसे
विमोक्ष-आयोजन-प्रक्रिया[2] हमें ।"

(५५)

त्रिलोक यों संस्तुति में निलीन था,
गुणावली थे कहते जभी सभी,
कुमार थे स्वीय-निकेत-गर्भ में
विचार में मग्न महान सिद्धि के ।

---

[1]बिना कारण की । [2]साधना ।

(५६)

समुच्च आगार नितांत शांत था,
समस्त वातायन थे खुले हुये,
समीर की चंचल वीचियाँ उन्हें
प्रसन्नता से करती विभोर[1] थीं।

(५७)

चला गया शैशव सर्वकाल को
प्रवृत्त कौमार्य्य हुआ जिनेन्द्र का,
परन्तु आती लख यौवनाग्नि को
विचार में था जरठत्व[2] आ गया।

(५८)

प्रकाशिता यद्यपि ज्ञान-रश्मियाँ
जिनेन्द्र-शीर्षस्थ प्रभूत हो गयीं,
परन्तु कादंबिनि[3] भाव-मेघ की
क्षण-प्रभा[4] ले हृदयाब्धि में उठी।

(५९)

न ध्यान में संस्तुति थी त्रिलोक की,
विचार में थी न परार्थ-मुक्ति ही,
जिनेन्द्र यों भाव-प्रवाह में बहे,
पतंग[5] झंझानिल-संग में यथा।

---

[1]मुग्ध। [2]वृद्धत्व। [3]मेघमाला। [4]बिजली। [5]छोटा जन्तु या पतंग।

(६०)

"सदैव जो स्वार्थ-परार्थ-हीन है,
तथैव शंका-भय से विहीन है,
समस्त स्वर्लक्षण[1] का कलाप जो
चला गया शैशव हाय ! हाथ से ।

(६१)

"कभी यहाँ सुन्दर वृक्ष-वल्लरी
सभी लता-गुल्म, मनोहरा धरा,
तथैव सारे यह दृश्य लोक के,
किये हुये धारण स्वर्ग-रूप थे ।

(६२)

"नदी-बनों की अति रम्य सद्यता
बनी हुई थी धन स्वप्न-लोक का,
परन्तु हूँ आज विलोकता जहाँ
न देखता हूँ वह दृश्य पूर्व के ।

(६३)

"सुरंग-शोभी वह इन्द्रचाप जो
कहीं छिपा और कहीं उगा हुआ,
महा मनोज्ञा बन-बाग की सहा[2]
कहीं खुली और कहीं छिपी हुई ।

---

[1]स्वर्ग के लक्षण । [2]गुलाब की टट्टी ।

(६४)

"विलोकता पूर्ण शशांक व्योम को
अनभ्र[1] जो, नीलिम जो, प्रशांत जो,
प्रकाशता दीप्त दिनेश भूमि को
प्रबुद्ध जो, सुन्दर जो, प्रसन्न जो।

(६५)

"परन्तु भू से, नभ से, दिगन्त से,
अहार्य से, कानन से, चतुष्क[2] से,
प्रभूत कोई सुषमा शनैः शनैः
चली गयी-सी प्रतिभात हो रही।

(६६)

"स-मोद गाते पिक आम्र-वृक्ष पै
मयूर आनंदित नृत्य-लीन है,
प्रमोद सर्वत्र विराजमान है,
परन्तु मेरा मन दुःख-पूर्ण है।

(६७)

"प्रपात होता जल का महीध्र[3] से,
कदापि मेरे दुख से न रुद्ध है,
वितुंड[4] का नाद हुआ वनान्त में
धरित्रि आमोद-प्रपूर्ण हो रही।

---

[1]बिना बादल का। [2]खेत। [3]पर्वत। [4]हाथी।

(६८)

"चतुर्दिशा दृश्य वसंत-काल के
धरित्रि में एक प्रमोद बो रहे;
परन्तु कैसा अवसाद[1] चित्त में
उठा, मुझे जो सब भाँति खो रहा ?

(६९)

"समीप बैठे खग शैल-वृक्ष से
अलापते स्वीय विराव मोद में,
प्रसन्न हैं वायु-विधूत[2] पत्र भी,
स-हास है व्योम सहानुभूति में।

(७०)

"प्रमोद ऐसा अनुभूत हो रहा
मुझे, कि मेरा मन हृष्ट-पुष्ट है,
विहंग-प्रेमोत्सव डाल-डाल पै
प्लवंग-सौख्योद्भव पात-पात पै।

(७१)

"अवश्य ही वार अभाग्य-पूर्ण है,
स-दुःख होता यदि हूँ वसन्त में;
विलोकता हूँ जब दूर खेत म
अजा चराते चरवाह खेलते।

---

[1]दुःख। [2]संचालित।

(७२)

"परन्तु केदार[1] तथैव वृक्ष भी
यही कहानी कहते स-दुःख हैं,
कि सौख्य-कारी दिन वे चले गये,
मिली हमें सु-स्मृति[2], स्वप्न खो गया !

(७३)

"विचारता हूँ यदि मैं प्रशान्त हो,
न जन्म ही व्यक्त, न व्यक्त मृत्यु ही,
नितान्त अज्ञेय, न भूति-[3]गम्य है
मनुष्यके जीवन का रहस्य भी ।

(७४)

"अतीत में जीवन-तारिका-समा
मदीय आत्मा जब स्वर्ग से चली
नितान्त थी सु-स्मृति से न नग्न[4] ही,
स्व-कर्म की पुच्छल ज्योति संग थी ।

(७५)

"मनुष्य-आत्मा उस दिव्यलोक से
जभी पधारी महि में स्व-कर्म से,
चली सु-छाया उस ऊर्ध्व लोक की
तभी समाच्छादित[5] हो शिशुत्व पै ।

---

[1]खेत । [2]स्मरण-शक्ति । [3]अनुभव-गम्य । [4]बिना, रिक्त । [5]ढकी हुई ।

(७६)

"धरित्रि-कारागृह रूँधता उसे[१]
शनैः शनैः आवृत जीव को बना,
परन्तु प्राणी लखता प्रकाश जो
चला त्विषाधिष्ठित[२] दिव्य-लोक से ।

(७७)

"प्रकाश सो शैशव में शनैः शनैः
सु-दूर होता शिशु वर्द्धमान[३] से
कि अंत में हो अति दूर सत्य ही
निमग्न होता खलु[४] वार-ज्योति[५] में ।

(७८)

"धरित्रि भी ले सुख-पुष्प क्रोड में
उसे लुभाती करती अचेत है;
निसर्ग खेला[६]-हित नव्य वस्तु दे
उसे भुलाता सब स्वप्न पूर्व के ।

(७९)

"मनुष्य होता फलतः कुमार सो
पुरा-अभिज्ञात-प्रभाव-हीन हो,
न राज-प्रासाद महेन्द्र-लोक का
पुनश्च आता स्मृति में कदापि है ।"

---

[१]आत्मा को । [२]प्रकाश से परिपूर्ण । [३]बढ़ते हुये । [४]निश्चय ही । [५]**दिन का प्रकाश** । [६]खेल ।

पड़े-पड़े सो
निमग्न थे
चतुर्दिशा
उठे दिवा[1]

उठे तभी
इतस्ततः मं
समीप वा [illegible]
विलोकने प्रांगण गेह का लगे।

(८२)

जहाँ कि दासी स्थित स्वीय पुत्र ले
निवृत्त-कर्तव्य रमा[2] रही उसे,
कुमार था केवल पाँच वर्ष का
प्रसन्न बैठा जननी-समीप ही।

(८३)

न चेटकी ने निरखा[3] जिनेन्द्र को
स्व-बाल-खेला लखती स-मोद थी,
कुमार को क्रीडन-मग्न देख के
जिनेन्द्र यों भाव-निमग्न हो गये।

---

[1]दिन (का)। [2]खेला रही। [3]ध्यान से देखा।

(८४)

विलोकिये, बाल स्वकीय खेल में
निलीन है, पूर्ण-प्रसन्न-चित्त है,
कपोल है रक्तिम मातृ-प्रीति से
लसा दृगों में बहु पितृ-प्रेम है।

(८५)

मनुष्यता-जीवन - स्वप्न - भागिनी[१]
विनिर्मिता नव्य कुमार-हस्त से,
समीप ही क्रीडन-वस्तुएं पड़ीं
विनोद की, उत्सव की, विवाह की।

(८६)

मनुष्य की-सी व्यवसाय-बंधना[२]
मनुष्य की-सी रण-रंग-साधना
रमा रही है शिशु-चित्त सर्वथा,
विलोकिये, शैशव खेलता हुआ।

(८७)

नवीन शैलूषक[३] एक खेल में
नहीं बिताता बहु काल, किन्तु सो
रमा हुआ जीवन रंग-मंच पै
अनेकशः खेल कुमार खेलता।

---

[१]संबंधिनी। [२]कार्य्य-कलाप। [३]नट।

(८८)

असूक्ष्म-आत्मा शिशु ! सूक्ष्म-देह तू
अवश्य है रक्षक पूर्व-दाय[1] का ।
स-नेत्र तू, अंध समाज में, अतः
विलोकता आत्म-पयोधि-वीचियाँ ।

(८९)

महान गंभीर पयोधि विश्व का
अनन्त आत्मा जिसमें भरी हुई,
विलोकता तू शिशु व्यक्त नेत्र से
अतीव अव्यक्त परेश-भावना ।

(९०)

सदैव तेरे अमरत्व की प्रभा
प्रसारती हाथ त्वदीय शीर्ष पै;
अजस्र स्वर्गीय स्वतंत्रता, सखे ?
अवाप्त है दिव्य स्वभाव से तुझे ।

(९१)

परन्तु क्यों तू इतने प्रयत्न से
बुला रहा सत्वर प्रौढ़ वर्ष वे
विषाद-दायी युग[2]-भार-तुल्य जो
सदा बनाते पशु-सा मनुष्य को ?

---

[1]उत्तराधिकार । [2]जुआँ, जो बैलके कंधे पर रखा जाता है ।

(९२)

अवश्य ही पार्थिव भार, हे सखे !
तुझे खलेगा व्यवहार विश्व का,
महान गंभीर अगाध सिंधु-सा
तुषार-सा जो गुरु है, असह्य है।

(९३)

अहो ! हमारी इस देह में, सखे !
अनन्त जीवन्त[1] पदार्थ है छिपा,
निसर्ग को जो स्मृत है, परन्तु जो
यहाँ पधारा कब, ज्ञात है नहीं।

(९४)

सुदूर है यद्यपि देव-लोक से,
निसर्ग के तू उदरस्थ आगया;
परन्तु क्या तू शिशु ! जानता उसे
यहाँ उतारा जिस सिंधु ने तुझे ?

(९५)

अनन्त है सिंधु अनादि तोय का,
अगण्य वीची उठती अमाप हैं,
असंख्य हैं, बालक-बालिका[2] जहाँ
अजस्र क्रीडा-रत जो विनोद में।

---

[1]स-जीव। [2]स्त्री-पुरुष।

(९६)

अतः विहंगो ! चहको, उठो, उड़ो,
वसन्त का सौख्यद रम्य काल है,
कुरंग कूदें, उछलें पतंग भी,
कपोत कूजें, कल-कंठ कूक दें।

(९७)

व्यतीत[1] का चिंतन सर्वथा वृथा,
चला गया शैशव, किन्तु क्या हुआ ?
रहा-सहा जो उसको सम्हालना
सदैव कर्तव्य मनुष्य-मात्र का।

(९८)

अवश्य ही जीवन-ध्येय में यहाँ
अखंड विश्वास प्रशंसनीय जो,
विलोकना सम्यक-ज्ञान-दृष्टि से
मनुष्य की प्राथमिका प्रवृत्ति हो।

(९९)

अगो, खगो ! यों समझो न चित्त में
कि है हमारी कम प्रीति-भावना।
विलोकता हूँ हृदयानुभूति तो
पुरा यथा थे तुम प्रेय हो तथा।

---

[1]अतीतकाल।

(१००)

पड़ा-पड़ा मैं इस राज-धाम में
नहीं तुम्हारा वह प्यार पा सका;
प्रकाश के अंचल से शनैः शनैः
समीर-द्वारा झरता अजस्र जो।

(१०१)

दिनान्त है, पूषण[1] अस्तमान है,
लसी प्रतीची-स्थित मेघ-मंडली,
दिखा-दिखा जो अपनी असारता
मनुष्यता को अमरत्व दे रही।

[द्रुतविलंबित]

(१०२)

जिस प्रकार यती निज श्वास को
कर निरुद्ध त्रिलोक विलोकता;
शमित[2] सांध्य-समीर किये हुये
तपन[3] देख रहा महि-व्योम है।

---

[1]सूर्य्य। [2]शान्त। [3]सूर्य्य।

दसवाँ सर्ग

[वंशस्थ

(१)

समीप ही क्षत्रिय-कुंड-ग्राम के
प्रवाहिता थी ऋजु-वालिका नदी;
कभी-कभी वीर कुमार जा वहाँ
प्रसन्न नैसर्गिक दृश्य देखते ।

(२)

हिमाद्रि से उद्‌गमिता तरंगिणी
प्रवाहिता मंद-जवा[1] मनोहरा,
प्रभात संध्या ध्वनि नीर की जिसे
बना रही कर्ण-सुखावहा महा ।

(३)

कभी-कभी प्रावृट् में अधीर हो
स-वेग स्रोती[2] बहती अमंद थी,
परन्तु होती अति शान्त अंत में
प्रशान्त रत्नाकर में प्रविष्ट हो ।

---

[1]मंद वेग वाली । [2]नदी ।

(४)

पयस्विनी आश्वनि मास में कभी
मुदा बजाती परिवादिनी[१] यहीं
समीर भी ले ध्वनि एक गीत की
तटस्थ शाली-पथ में बिखेरतीं ।

(५)

महानदी की कल-नादिनी गिरा
सु-कोमला प्रस्तर-पुंज पेलती[२]
प्रसन्न हो हार-सिंगार-गंध से
स्व-अंक में उत्पल थी सकेलती ।

(६)

कुमार प्रायः उसके समीप जा
विलोकते तुंग-तरंग-भंगिमा,
प्रतीत होती मुख-नेत्र-बिम्ब से
सरोज-शोभा जल में प्रफुल्लिता ।

(७)

मनुष्य-साधारण-वक्र से कहीं
महाधिका थी सुषमा मुखाब्ज की,
तटस्थ-शाखी-खग देख देव को
अशंक्य साक्षी इस तत्त्व के हुये ।

---

[१]वीणा। [२]धक्का देती।

(८)

विधातृ[1] ! दे तू तज गांग नीर को
विहाय कालिन्दि-निकुंज आ यहाँ,
बुला रही है ऋजु-वालिका तथा
विहार के वप्र[2] पुकारते तुझे !

(९)

पहाड़ियों से चल के हिमाद्रि की
विहाय नेपाल-अगावली बड़ी,
विहार से आ करती विहार है,
पयस्विनी मानस-सत्र[3]-निःसृता ।

(१०)

दिनान्त में मंजुल ग्रीष्म-काल के
महा मनोज्ञा यह आपगा[4]-तटी
प्रसारती चिंतन-शील जीव के
विचार का एक प्रवाह चित्त में ।

(११)

अलक्त अस्तंगत सूर्य्य की प्रभा
प्रसूतिनी[5] हो अनुराग-भाव की
बना रही रंजित सांध्य-तारिका
पयस्विनी में प्रतिबिंबिता बनी ।

---

[1]सरस्वती । [2]मैदान । [3]सत्तर, तडाग । [4]नदी । [5]जननी ।

(१२)

कहीं-कहीं मौक्तिक-सी उडु-प्रभा
खुले दृगों से अवलोकती हुई
बनी वशीभूत-विराग-भावना
अहो ! नदी-अंक-निमज्जिता हुई ।

(१३)

कि काटती कानन के तमिस्र को,
कि पाटती स्वर्णिम रश्मि तीर में,
तरंग-मालाऽऽकुलिता तरंगिणी
बढ़ा रही क्षत्रिय-कुंड की प्रभा ।

(१४)

बही चली जा ऋजु-बालिके ! प्रिये !
बढ़ी चली जा सहसा पयोधिगे !
प्रवाह तेरा कमनीय कान्त है,
समीप तेरा बहुधा प्रशान्त है ।

(१५)

अये ! तुम्हारे तट पै दिनान्त में
प्रिये ! न चिता-विहगी उड़ी कभी,
न घूक[१] आये उपकूल[२] रात्रि में,
न तीर आया भय प्रात-काल में ।

---

[१]उल्लू । [२]पास ।

(१६)

समीप तेरे सरि ! ग्रीष्म में कभी
प्रसून से शोभित भूमि-अंक में,
विचारते जीवन के रहस्य को
शयान[१] होते सुख से कुमार हैं ।

(१७)

निदाघ में तापित तीव्र अंशु से
करी[२] यहाँ आ अवगाहते सदा,
अतीव संक्षुब्ध प्रसारती प्रभा
पयस्विनी - तुंग - तरंग - भंगिमा ।

(१८)

कभी-कभी पूर्ण-प्रकाश चंद्र का
निशा-समुल्लास[३] बिखेरता हुआ,
कुमार के चिंतन-शील चित्त में
प्रमोद प्यारा भरता अतीव था ।

(१९)

अभी पुरी-मंदिर-वाद्य प्रात में
निनादिता थे करते सभी दिशा,
अवश्य आवर्तिनि[४]-अंक-बीचि में
अभूरि आघात प्रचारते रहे ।

---

[१]लेटे हुये । [२]हाथी । [३]आनंद । [४]नदी ।

(२०)

कभी-कभी ले चरवाह वंशिका
प्रसन्न गाते सरि के समीप थे,
कुमार के भी मन में अनेकशः
विशुद्धता-संयुत राग[1] फैलते ।

(२१)

अहर्निशा एक-रसा प्रवाहिता,
महान-पूता, बहु-नीर-संयुता,
अजस्र प्रालेय-गिरीन्द्र-उद्भवा[2]
प्रमोददा थी सरिता कुमार को ।

(२२)

नदी बनी काल-प्रवाह-तुल्य ही
अहर्निशा थी बहती जलोत्तमा ;
अहार्य्य-कन्या अति शक्ति-शालिनी
बही पथों का अवरोध नाशती ।

(२३)

पुरों-वनों में सुषमा-प्रवर्धिनी,
सदा लता-कुंज-प्रभा-प्रकाशिनी,
तरंग-मालाऽऽकुलिता पयस्विनी[3]
कुमार को थी ऋजुवालिका प्रिया ।

---

[1]अनुराग, गीत । [2]हिमालयसे निकली हुई । [3]नदी ।

(२४)

नितान्त एकान्त-निवास-संस्पृही[1]
कुमार को थी सरि मोद-दायिनी,
कभी-कभी आ उसके समीप वे
विचारते जीवन का रहस्य थे।

(२५)

दिनेश की वारिद की सुता नदी,
हिमाद्रि की कानन की प्रिया नदी,
अखंड प्रालेय-विनिःसृता नदी
बही महावात-प्रकंपिता नदी।

(२६)

कुमार निःसंग[2] नदी समीप में
सदा-महा-चिंतन-शील भाव से
विरक्त-निःश्वास-समेत देखते
तटस्थ-पुष्पावलि घर्म-मूर्च्छिता।

(२७)

महान गंभीर तथैव निर्मला,
स-शक्त है किन्तु अमन्यु-भाविनी,
प्रवाह तेरा सरि! श्रीकुमारको
बना समुत्तेजक, किन्तु सात्त्विकी।

---

[1]इच्छुक। [2]अकेले।

(२८)

समीप तेरे निज पक्ष-पात[१] से
विहंग होते अति मोद-युक्त हैं,
प्रभात-संध्या स्वर-युक्त गीत से
बना रहे हैं पुलिन[२]-द्वयी शुभा।

(२९)

विलोक यों जीवन के प्रवाह को
कुमार ने शान्त स्वभाव से तभी,
स्व-दृष्टि डाली सरि तीर बैठ के
मनुष्य के जीवन के प्रवाह पै।

(३०)

कुमार को षोडश वर्ष हो गये,
विलोकते सर्व प्रपंच विश्व के,
मनुष्य के जीवन की प्रतिक्रिया
हुई तदा मानस[३]-मध्य बिंबिता।

(३१)

पुनश्च सोचा; इस जीव-लोक में
मदीय तो आगम अंत-बार का;
मनुष्य के जीवन को उबारना
अवश्य है अंतिम ध्येय मामकी[४]।

---

[१]पंखों के निपात से। [२]तटी। [३]चित्त। [४]मेरा।

(३२)

न है तिरस्कृत्य न त्याज्य भी मुझे
मनुष्य-रक्षा अघ[1] से, अधर्म से,
विलोक लूँ जीवन का रहस्य मैं,
विचार लूँ संप्रति भेद विश्व का ।

(३३)

मनुष्य विद्यार्चन,[2] अर्थ-अर्जना[3]
शरीर को शाश्वत जान के करे;
परन्तु, त्यागे न कदापि भावना
स्व-धर्म की, जीवन अल्प मान के ।

(३४)

न साधु[4] है साहस प्राण त्यागना,
वरंच जीना अति श्रेष्ठ कार्य है,
समाप्ति होती यदि मृत्यु के परे,
अवाप्त होता फिर जन्म ही नहीं ।

(३५)

न ज्ञात है जीवन की समाप्ति में
सुभाग्य है गुप्त, कुभाग्य लुप्त या,
अतः सदा आयु-प्रसार-मध्य ही
स्वतंत्रता से शुभ कर्म कीजिए ।

---

[1]पाप । [2]विद्या की पूजा । [3]कमाना । [4]अच्छा, सुन्दर ।

(३६)

विरंचि ने जीवन की कथा लिखी
ललाट में ही जब जन्म-काल से,
न प्राणियों से परिचिन्तनीय है
कि कौन-सी आयु-प्रवाह की दिशा।

(३७)

बचा जिसे यत्न सका न मृत्यु से,
सु-कर्म से जीवन रक्षणीय है,
सुलभ्य है उत्तम भाग्य-साधना,
अलभ्य है मानुष-जन्म-प्राप्ति भी।

(३८)

चतुर्दिशा चंचल-वायु-तुल्य ही
मनुष्य का जीवन स्थैर्य्य-हीन है,
अवश्य ही आह-कराह जीव की
समीर-संचार[1]-समान स्वल्प है।

(३९)

सदैव है जीवन प्रेय सर्वथा
धरित्रि में जीवित प्राणि-मात्र को,
विभीत हो कीट-पतंग भी सभी
न त्यागना जीवन चाहते कभी।

---

[1] झोंका-प्रवाह।

(४०)

दया महा उत्तम वस्तु विश्व में,
दया सभी पै करना स्व-धर्म है,
दया बनाती जग सह्य[1] जीव को,
दया दिखाना अति उच्च कर्म है।

(४१)

न अन्न-वस्त्रादिक ही समेटना
विधेय है कार्य्य मनुष्य-मात्र का,
रची गयीं जीवन-हेतु वस्तुएँ
न किन्तु जीना[2] इनके लिए कभी।

(४२)

मनुष्य तू मर्त्य, अतः विचार ले
अवश्य तेरी कल ही समाप्ति है,
परन्तु धर्माचरणार्थ सोच तू
अवश्य तेरी शत-वर्ष आयु है।

(४३)

धरित्रि है बुद्बुद्, और जीवका
अदीर्घ है जीवन, दीर्घ काल है,
तरंग में लेखन-तुल्य व्यर्थ है
अदूर-दर्शी नर की क्रिया सभी।

---

[1]सहनीय। [2]जीवन।

(४४)

स्व-कर्म ही किन्तु न मास-वर्ष है,
विचार ही किन्तु न श्वास-मात्र है,
विभावना ही न कि मूर्त देह है,
मनुष्य का जीवन माप-दंड है ।

(४५)

विचार में जो सब भाँति लीन हो,
निगूढ़ हो संतत स्वानुभूति में,
सदैव जो उत्तम-कार्य्य-लग्न हो,
प्रशस्त जीना उसका यथार्थ है ।

(४६)

मनुष्य जो हैं पहचानते मुझे
वही प्रशंसा करते स-प्रेम हैं,
समस्त-संसार-हितार्थ मै सदा
स्व-जन्म लेता करता सुकर्म हूँ ।

(४७)

स-दुःख-पृथ्वी-तल के लिए, तथा
प्रसन्न-आकाश-हितार्थ मैं सदा
स्व-जन्म लेता कर धर्म-पालना
प्रकाश देता, हर अंधकार को।

(४८)

मनुष्य का जीवन-कार्य्य तत्त्वतः
विनम्रता का अति दीर्घ पाठ है,
यथार्थ देखो, भव की समाप्ति से
न न्यून है जीवन की विभीषिका[1]।

(४९)

सभी यहाँ जीवन-मार्ग-पान्थ हैं
चले सभी हैं निज जन्म-प्रात से,
स्व-मृत्यु-संध्या तक यों चले चलो,
न दूर-यात्रा-श्रम हो, मुझे भजो।

(५०)

न भक्ति हो तो इस जीव-लोक में
मनुष्य को संभव एक दुःख है,
महान है जीवन की विपत्ति भी
तथैव देहान्त महाभिशाप है।

(५१)

न विश्व में वीर मनुष्य की कमी,
न न्यूनता है जन साधु सौम्य की,
अतः सभी के प्रति प्रेम-भाव हो,
सभी करेंगे नर प्रेम आप से।

---

[1]भय।

(५२)

न जीवनाशा[1] इतनी तमिस्र है
मनुष्य जैसी उसको बखानते;
प्रभात-कालीन पयोद-वर्षणा
कभी-कभी वासर स्वच्छ ला सकी।

(५३)

यथैव वर्षा, फिर ताप धर्म की,
पुनश्च झोंके सुखदा समीर के,
तथा वनों में मृदुता-प्रसार भी
तदा अगों में सहनीय उष्णता।

(५४)

तथैव आसक्ति[2] प्रतीति-रीति भी
पुनश्च रागान्वित स्वप्न-भावना।
विलोक के जीवन-क्षेत्र-शुष्कता
बनी महा सौख्यद सद्यतामयी[3]।

(५५)

सु-काल-सा जीवन ! तू विरम्य है,
प्रभात तेरा कितना सुरम्य है;
अरण्य-केदार-नदी-अहार्य[4] के
समीप ही यौवन रम्यमाण है।

---

[1]जीने की इच्छा। [2]संलग्नता। [3]ताज़गी। [4]पर्वत।

(५६)

समस्त एकत्रित वस्तुएँ हुयीं
मनुष्य के जीवन-केन्द्र में, अहो !
न रोदसी-अंबर-भूमि में, लखो
समीर को, दीधिति को, पलाश को।

(५७)

अधूलि है जीवन-मार्ग क्लिष्ट है,
खिंचा अहो ! मैं किस ओर जा रहा,
हितार्थ मेरे अवशेष क्या रहा ?
न रंच भी; सत्रह वर्ष हो गये।

(५८)

अहो ! द्विधा जागृति है मनुष्य की
सुषुप्ति की संस्कृति अन्य वस्तु है,
नितान्त ही जीवन और मृत्यु की
न स्वप्न-सीमा परिलेखनीय है।

(५९)

मनुष्य जो आयुष उत्तरार्द्ध, सो
सदा बनाता सुविलम्ब-गामिनी;
परन्तु पूर्वार्द्ध प्रमोद-युक्त जो
अजस्र देता द्रुत-गामिता उसे—

(६०)

धरित्रि में जीवन की क्षण-प्रभा
दबा रही है नर शाश्वती-समा[1]
व्यतीत होती यदि भद्र-भाविनी
सु-काव्य है आयुष भव्य जीवका।

(६१)

धरित्रि में आकर रो उठा जभी
मनुष्य हैं जीवित जानते उसे;
तथैव ले दो हिचकी चला गया,
समस्त प्राणी मृत मानते उसे।

(६२)

निसर्ग से जीवन प्राप्त जो हुआ
अदीर्घ है, अस्थिर है, अपूर्ण है,
व्यतीत जो उत्तम भाँति से हुआ
सु-दीर्घ है, शाश्वत है, प्रपूर्ण है।

(६३)

निसर्ग ने जीवन को उधार में
दिया हमें है वन उत्तमर्ण[2] हो,
किया नहीं निश्चित किन्तु दैव ने
कि है चुकाना किस काल में उसे।

---

[1]दीर्घ-कालतक। [2]साहूकार।

(६४)

कलंक से जीवन हीन जो हुआ
सधे विनिर्विघ्न[1] समस्त कर्म जो,
मनुष्य का सार्थक जन्म हो गया,
अशोच्य है देह-निपात भी उसे।

(६५)

समस्त भू को पहचानना तथा
समस्त को सादर दृष्टि देखना।
समस्त-प्राणी-प्रति प्रेम मानना,
प्रशस्त है जीवन-ध्येय जीव का।

(६६)

शरीर हूँ मैं यह तथ्य[2] है नहीं,
शरीर में हूँ, यह नित्य सत्य है,
शरीर-संपात न मृत्यु जीव की,
अशोच्य तो शोच्य न प्रज्ञ जीव से।

(६७)

न धर्म से आवृत कार्य्य हों जहाँ,
न कर्म से संवृत धर्म-भाव हों,
जहाँ न हो भक्ति, न देव-अर्चना
वहाँ सभी जीवन मृत्यु-तुल्य है।

---

[1]कुशलता से। [2]सत्य।

(६८)

धरित्रि में कर्म-निबद्ध जीव का
अवश्य जीना, मरना अवश्य है;
जिये भली भाँति इसीलिये कि जो
मरे भली भाँति, न सत्य अन्यथा ।

(६९)

न छीनिए जीवन प्राणवान का,
न दे सकोगे नव प्राण जीव को,
धरित्रि है जीवन के लिए सदा
यहाँ सभी के अधिकार तुल्य हैं।

(७०)

मनुष्य यात्री निज-कर्म-मार्ग के
कुटी-समा भू कुछ काल के लिए,
दिनान्त आया कि रुके कहीं-यहीं,
निशान्त आया कि गये यहीं कहीं।

(७१)

यहाँ पधारे तब आप नग्न थे,
वहाँ सिधारे तब मोह-मग्न थे,
अपाय[१] से जीवन में न मुक्त थे,
उपाय क्या सार्थक मृत्यु के परे ?

---

[१]विघ्न ।

(७२)

सुखी भले ही करि पै सवार हो,
दुखी भले पाँव घसीटते चले,
परन्तु जाते सब हैं वहीं जहाँ
विभेद है भूपति में न रंक में ।

(७३)

अ-सार है जीवन जीव-लोक में,
स-सार देखीं युग वस्तुएं यहाँ,
स्व-दुःख में साहस-पूर्ण भावना,
दया दिखाना पर दुःख में सदा ।

(७४)

कहाँ गया कोकिल वीत वर्ष का,
कहाँ गयी शुष्क प्रसून-गंध भी,
कहाँ गया स्वाति-पयोद-बुन्द, या
कहाँ गया जीवन-प्रेम-पात्र भी ।

(७५)

धरित्रि मेला, मिलते जहाँ सभी,
धरित्रि खेला सब खेलते जहाँ,
रुका न कोई जग-पण्य[1]-भूमि में
चले गये बालक खेलते हुये ।

---

[1]बाज़ार ।

(७६)

बने महाद्वीप भविष्य-भूत के
सुमध्य में जीवन अन्तरीप-सा,
सम्हाल ले जो पथ वर्तमान का
वही अलक्ष्येन्द्र[१]-समान ख्यात हो।

(७७)

लिये चले जीवन-भार शीस पै,
झुके, रुके जो न कदापि मार्ग में,
वही सुधी संबल[२]-युक्त अंत में
प्रसिद्ध साफल्य-सखा हुआ यहाँ।

(७८)

हुआ करे लोमश-सा प्रवृद्ध या
बना करे रावण-सा सुविक्रमी,
परन्तु हो जीवन साधु राम-सा
स्वकीय-कल्याण-विधान-सुस्पृही ।

(७९)

प्रकाश ही हो अथवा तमिस्र हो,
सुभाग्य ही हो अथवा कुस्वप्न हो,
प्रकंप-संयुक्त कि स्थैर्य्य-युक्त हो,
परन्तु हो जीवन जीविताश्रयी[३] ।

---

[१]सिकंदर बादशाह। [२]मार्ग का पाथेय। [३]जीवित मनुष्य को आश्रय लेनेवाला।

(८०)

न प्राण लेना अति क्लिष्ट कार्य है,
पिपीलिका भी डसती करीन्द्र को,
परन्तु देना वश में न अन्य के
नरेन्द्र के या कि नरेन्द्र-नाथ[1] के।

(८१)

समस्त जो जीवन-रत्न है यहाँ
पिरो सका जीवन एक ताग में,
मनुष्य आता जल के प्रवाह-सा,
तथैव जाता गति-सा समीर की।

(८२)

मरुस्थ कासार मिला जहाँ रुक,
पिया वहीं नीर स्व-मार्ग में चले,
अनिश्चिता आगम की दिशा यहाँ
कहाँ गये स्थानक[2] इष्ट है नहीं।

(८३)

अहर्निशा की शतरंज है बिछी,
नरेश-प्यादे सब खेल-वस्तु हैं,
गये चलाये कुछ देर के लिए,
हुये इकट्ठे फिर एक ठौर में।

---

[1]सम्राट्। [2]स्थान।

(८४)

पथस्थ टूटी शिविरस्थली मही,
स-सैन्य आये नृप के समूह भी,
रुके यहाँ केवल एक रात्रि ही
विलोक सूर्य्योदय वे चले गये।

(८५)

मनुष्य का जीवन एक पुष्प है,
प्रफुल्ल होता यह है प्रभात में,
परन्तु छाया लख सांध्य काल की
विकीर्ण[१] होके गिरता दिनान्त में।

(८६)

मनुष्य का जीवन रंग-भूमि है,
जहाँ दिखाते सब पात्र खेल हैं,
जभी हिलाया कर सूत्र-धार ने
हुआ पटाक्षेप तुरन्त मृत्यु का।

(८७)

निसर्ग ने दिव्य विभूति जीव को
प्रदान की जीवन की अदीर्घता,
परन्तु जो जीवन मृत्यु ने दिया
सु-दीर्घ है, शाश्वत है, समस्त है।

---

[१]विश्रृंखलित।

(८८)

इतस्ततः जीवन-सिंधु-वक्ष पै
मनुष्य खेते अपनी तरी यहाँ,
समीप दिग्सूचक-यंत्र ज्ञान है,
अदूर है भाव-समीर-वीचियाँ।

(८९)

भरा हुआ जीवन के शराव[1] में
प्रमोद है, है सम-भाव दुःख भी,
परन्तु है एक विचार-मात्र ही,
द्वितीय तो एक विचार-पात्र है।

(९०)

सदा सभी की दशद्वार देह में
न प्राण-पक्षी करता निवास है,
रहा, वही जीवन है मनुष्य का,
गया, वही मृत्यु कही गयी यहाँ।

(९१)

स-दुःख है जो जन श्वास ले रहा,
स-क्लेश है जो नर ज्ञान-युक्त है,
न क्लेश है और न दुःख है उसे
हुआ समुत्पन्न मनुष्य जो नहीं।

---

[1]प्याला।

(९२)

मनुष्य का जीवन यों अदीर्घ है,
नितान्त ढाई क्षण का बना हुआ,
मुहूर्त रो लो, हँस लो अदिष्ट[१] ही,
प्रदत्त आधा पल प्रेम के लिए।

(९३)

मनुष्य का जीवन है वसन्त-सा,
हिमर्तु प्रारंभ, निदाघ अंत में;
जहाँ सदा भाव-प्रसून फूलते
विचार के भी फलते प्रतान[२] हैं।

(९४)

लिया जभी जन्म, तुरन्त रो उठे,
विलोक पृथ्वी हँसने लगे तथा,
मुहूर्त जागे, क्षण-एक सो, उठे,
सुदीर्घ सोये, तब जागना कहाँ ?

(९५)

मनुष्य का जन्म प्रभात-काल है,
तथैव है जीवन एक बार का,
तुरन्त लाती हिचकी दिनान्त है,
स-वेग आती फिर मृत्यु-यामिनी।

---

[१]मुहूर्त, क्षण, पल। [२]लता।

(९६)

मनुष्य का जीवन लौह-तुल्य है,
गया निकाला तम-पूर्ण खान से,
जभी तपाया जग की भयाग्नि में
कि जा बुझा दुःख-दृगम्बु में, अहो !

(९७)

मनुष्य का जीवन दीर्घ-काय है,
उसे कि जो क्लेशित हो, स-दुःख हो,
परन्तु है सूक्ष्म, अदीर्घ भी उसे,
जिसे न आनन्द-प्रमोद त्यागते ।

(९८)

समीर से चालित कंज-पत्र पै
यथैव है जीवन-बुन्द नाचता,
तथा किनारे पर काल के, लखो
अजस्र ही जीवन नृत्य-लीन है ।

(९९)

सुदीर्घ जीना न प्रशंसनीय है,
अदीर्घ जीना परिशंसनीय भी,
सुदीर्घ लज्जा जिसको न चाहिये
अदीर्घ ही जीवन श्लाघ्य[1] है उसे ।

---

[1]इच्छित ।

(१००)

प्रवृत्त होते क्षण में, मुहूर्त में,
सुजीर्ण होते पल में, अदिष्ट[1] में,
कि आ गया अंतिम काल दंड[2] में,
गया कि मारा नर काल-दंड से।

(१०१)

खड़े-खड़े जीवन अन्तरीप पै,
विलोकिये क्यों न अपार सिंधु दो,
रचे हुए स्वर्ग-अस्वर्ग देखिये,
खुले हुये दक्षिण-वाम नेत्र से।

(१०२)

वही यहाँ जीवित[3], कीर्ति-युक्त जो,
वही यहाँ जीवित है, यशस्वि जो,
अकीर्ति-संयुक्त यशस्विता बिना
मनुष्य का जीवन मृत्यु-तुल्य है।

[द्रुतविलंबित]

(१०३)

रसवती जिसकी मृदु भारती,
गृह-वधू शुभ पुत्रवती सती,
बहुल-दानवती वर संपदा,
सफल-जीवन है वह ही गृही।

---

[1]क्षण। [2]मुहूर्त। [3]जीवन या जीता हुआ।

(१०४)

फलवती जिसकी तप-साधना,
विपुल ज्ञानवती गति बुद्धि की,
गृह-वधू बन मुक्ति विराजती,
सफल-जीवन है वह ही यती।

ग्यारहवाँ सर्ग

[वंशस्थ]

(१)

दिनान्त था; पश्चिम में दिनेश के
मयूख सारे कुछ ताम्र हो चले;
समीर धीरे बहने लगा तथा
विहंग वृक्षों पर शब्द-युक्त थे।

(२)

प्रशान्त था; वासर ज्येष्ठ-मास का
तपा मही पै रवि पूर्ण-तेज से,
परन्तु संध्या जिस काल आ गयी
दिनेश अस्ताचल को चला तभी।

(३)

विलोकिये पूषण[1] दग्ध हो रहा
अहो! चिता पै न धरा गया अभी,
सुभीरु[2] छाया अति मूर्छिता बनी
नितान्त ही पूर्व-प्रलंबिनी हुई।

---

[1]सूर्य्य। [2]डरी हुई।

(४)

पयोद में निर्मित ज्योति-मार्ग पै
न तू गिरे, रोदन में न लीन हो,
भयंद तेरी न चिता विभासती[1]
प्रशान्त जा तू, उगना प्रभात में।

(५)

समीर के शीतल वेग से हुई
महानदी की कुछ शीत रेणुका;
वहीं-कहीं राजकुमार बैठ के
विलोकते थे अवसान वार का।

(६)

धरित्रि के पश्चिम दिग्विभाग में
हरे-हरे वृक्ष-समूह-पृष्ठ पै
पयाल[2] का पुंज प्रदह्यमान-सा
दिनेश का मंडल अस्त हो रहा।

(७)

लसे नभोमंडल-तुल्य सिंधु में
पयोद के द्वीप-समूह हों यथा;
उदीयमाना जिनके सु-मध्य में
प्रदीप्त थी रक्तिम एक तारिका।

---

[1]दिखलाती, प्रकाशती। [2]धान्य का भूसा या धान्य के सूखे वृक्ष।

(८)

दिनेश वाजीगर-तुल्य भूमि पै
स्व-रश्मियों की लकड़ी घुमा रहा,
अरण्य, कासार, महीध्र, व्योम भी
समस्त एकीकृत हो गये तभी।

(९)

दिनेश विश्रान्त महीप-तुल्य ही
स्वकीय अस्ताचल के निवेश में
दिनान्त में वायु-तरंग ले रहा
चतुर्दिशा सेवक मेघ-यूथ थे।

(१०)

कभी-कभी मेघ-समूह चीरता
बिखरता सूर्य्य-प्रकाश विश्व पै,
निसर्ग सारा हँस के हँसा रहा
प्रवाल[१]-सा पश्चिम ओर जा रहा।

(११)

अहो, अहो! आज दिनान्तमें, कहो,
दिनेश लज्जा-वश क्यों अलक्त है?
त्रिलोक के जीव-समूह का लखा
कि निंद्य ही सर्व-क्रिया-कलाप है।

[१]मूँगा।

(१२)

कि यान सारे दिन व्योम में चला
धुरा हुआ तप्त मरीचि-युक्त है,
बना रहा शीतल सिंधु में जिसे,
इसीलिए व्यग्र अनूरु-सारथी[१]।

(१३)

मरीचियाँ पूषण अस्तमान की
गिरीन्द्र-शीर्षस्थ सु-रंग सोहतीं,
कि यामिनी-स्वागत-हेतु हो रहीं
समुद्गता सुन्दर रत्न-मालिका।

(१४)

नितान्त ऐसे बहु भाव चित्त को
कुमार के चंचल थे बना रहे,
कभी-कभी आनन मोड़ पूर्व में
विलोकते थे ऋजुबालिका-तटी।

(१५)

दिखा पड़ा पीपल के तले वहीं
कहीं नदी का वह घाट भी उन्हें,
जहाँ पुरी के मृत ला स-शोक हो
जला रहे थे नर आदि-काल से।

---

[१]सूर्य्य।

(१६)

बँधे हुये थे मृत-पात्र वृक्ष में
लगी हुई थी बहु भस्म तीर ही,
कहीं-कहीं अर्ध-विदग्ध दारु[1] के
समूह भी खंडित थे पड़े हुये।

(१७)

श्मशान का नाम भयंद है महा
मनुष्य होते सुनके महा दुखी,
निसर्ग मानों भयभीत हो स्वयं,
स्वकीय संस्थैर्य्य[2] बिखेरता यहाँ।

(१८)

अवश्य भस्मांत शरीर है यहाँ
समस्त नारी-नर क्षार हो गये,
जले यहीं उद्भट, भीरु, नारकी,
मनुष्य स्वर्गीय समृद्ध, रंक भी।

(१९)

नरेश, तू मूर्ख, तुझे न चाहिये
धरित्रि, ले तू महि चार हाथ की;
न चाहिये अंशुक-भूषणादि भी
सुवर्ण थोड़ा, लघु वस्त्र इष्ट है।

---

[1]लकड़ी। [2]स्थिरता।

(२०)

चला बँधे हाथ मनुष्य विश्व को,
बिता दिया जीवन चार साँस ले,
चला खुले हाथ जभी श्मशान को,
खुला सभी जीवन का रहस्य भी ।

(२१)

कभी-कभी अंतिम वस्त्र[1] को उठा
जभी बिलोका मुख देह-शेष का,
लखा जरा-जीर्ण शरीर प्रेत का,
गया तिरस्कार किया स्व-बंधु से ।

(२२)

पड़ी हुयी हैं कुछ श्वेत अस्थियाँ
दिनान्त में धूमिल जो विभासतीं ।
विचार मेरे थक-से गये, तथा
अजस्र देतीं यह ठोकरें उन्हें ।

(२३)

प्रभात की पूषण-रश्मियाँ यहाँ
सदा गिरातीं कुछ बुन्द ओस के;
परन्तु ज्यों भस्म विलोकती उन्हें
अदृष्ट होते वह भस्मसात[2] हो !

---

[1]कफन । [2]भस्म-तुल्य ।

(२४)

सभी थके मानव श्रान्ति पा सकें,
अशान्त जो दानव शान्ति पा सकें,
यहीं—इसी स्थान विशेष में—सदा
पुकारते लोग जिसे श्मशान हैं।

(२५)

यहीं सभी मानव ऐक्य-भाव से,
प्रशान्त यात्री सब मृत्यु-मार्ग के,
अदृष्ट होते उस दीर्घ पंथ में
जहाँ न चर्चा पुनरागमादि की।

(२६)

यही चिता, भीतिद[1] काल-द्वार जो,
सनातनी नींद मनुष्य की यहीं—
विचार, है भाव यहाँ न अन्य है
अवाप्त होता अतिरिक्त भस्म के।

(२७)

मनुष्य का जीवन नाट्य-भूमि है,
प्रवेश-निर्वेश बने हुये जहाँ,
अवाप्त होती उसको स्व-कर्म से
शिशुत्व-तारुण्य-जरत्व-पात्रता।

---

[1]भयंकर।

(२८)

मनुष्य बालारुण-सा उगा, जगी
पयोज[१]-नेत्रा-सरसी-प्रसन्नता ;
प्रगल्भता[२]-प्राप्त हुआ कि आ गयी
सरोज-संध्यारुण में विषण्णता ।

(२९)

मनुष्य जीना बहु काल चाहता,
न वृद्ध होना वह याचता कभी,
गयी, न आयी युवती[३] दशा वही,
न आ गयी, है जरठा[४] दशा वही ।

(३०)

न देह होती लकुटावलंबिता,
न ज्योति अस्पष्ट अदीर्घ नेत्र में,
न हास्य में कुंठितता विराजती,
न प्राप्त होती यदि वृद्धता हमें ।

(३१)

न आह होती नर की गंभीर जो,
कराह में भी कटुता न व्यापती,
न देह को जर्जरता व्यपोहती[५],
न प्राप्त होता स्थविरत्व[६] जीव को ।

---

[१]कमल । [२]प्रौढ़ता । [३]जवानी । [४]वृद्धा । [५]विनाशती । [६]वृद्धत्व ।

(३२)

मनुष्य चाहे जितना सुखी रहे,
अनन्त चाहे उसका प्रमोद हो,
समाप्त आशा उसकी हुई जभी,
ज्वरा[1] तभी आकर कंठ दाबती।

(३३)

चतुर्दिशा में धुँधला प्रकाश हो,
प्रलम्ब छाया गिर भूमि में पड़े,
थकान हो, निर्बलता महान हो,
विचार देखो, तब मृत्यु आ गयी।

(३४)

तरंगिता काल-नदी बही तथा
अनन्त-धामाम्बुधि[2] पास आ गया,
बचा सका, हा! तृण भी न दंड का
मनुष्य डूबा सहसा भवाब्धि में।

(३५)

कि जर्जरा जीवन की तरी चली
तरंग-संपूरित काल-सिंधु में,
थपेड़ कर्मास्रव-नीर की लगी
तुरन्त डूबी वह मृत्यु-घाट में।

---

[1]मृत्यु। [2]अनन्त तेज का समुद्र अथवा अनन्त स्थानवाला समुद्र।

(३६)

करें प्रशंसा अति ही मुनीन्द्र या
कवीन्द्र चाहे रच दें गुणावली,
सुकीर्तिता शेष-सहस्र-मौलि से,
भले रहे, किन्तु जरा विदूष्य[1] है।

(३७)

मनुष्य का यौवन भूल से भरा,
तथा प्रगल्भत्व त्रिशूल से भरा,
जरत्व भी निष्प्रभ धूल से भरा;
मरुस्थ भू-खंड बबूल से भरा।

(३८)

मनुष्य है जीवन-जात[2] कंज-सा
प्रफुल्ल आरंभ सु-रम्य भासता
परन्तु होता असु[3]-हीन शीघ्र ही,
विनष्ट होते बन शुष्क पत्र भी।

(३९)

शुनी-समा मृत्यु सदैव घूमती
स-तर्क प्रत्येक निवेश-द्वार पै;
कहाँ नहीं है यह प्राण सूंघती ?
कहाँ न जाती, जन कौन छोड़ती ?

---

[1]दोष-युक्त। [2]जीवन या जल। [3]प्राण।

(४०)

विलोकिये, सूर्य्य प्रभात, द्वार से
चला समावेष्टित[1] कीर्ति-पुंज में,
परन्तु जा पश्चिम दिग्विभाग में
न व्योम को, भू-तल में चला गया।

(४१)

प्रकंपकारी यम की अनीक[2] के
उठे जरा में कच श्वेत केतु-से,
अजस्र ही यद्यपि युद्ध-लग्न हैं,
परन्तु तो भी नर-देह हारती।

(४२)

शरीर के पंजर में फँसे हुये
विपन्न,[3] मारे पर, प्राण-वायु ने;
तुरन्त उड्डीन[4] हुआ, स्वतंत्र हो,
चला न जाने किस द्वार से गया।

(४३)

यथा डराता डर मृत्यु का हमें,
तथा न देती भय मृत्यु भी कभी,
स-तर्क पूछो यदि प्रेत-जीव से
भय-प्रदा मृत्यु, यथैव जन्म है।

---

[1]घिरा हुआ, लिपटा हुआ। [2]सेना। [3]विपत्ति-युक्त। [4]उड़ा।

(४४)

यथा तमिस्रा भयदा किशोर को,
तथैव है मृत्यु भयंद जीव को,
समान ही अत्यय[१] की, तमिस्र की,
कथा अश्रव्या नर भीत के लिए।

(४५)

विलीन होता जब ग्रीष्म-मेघ है,
प्रशान्त होता जब सांध्य वायु है,
निलीन होती तट की तरंग भी,
निमीलिताक्षी बनती दिन-प्रभा।

(४६)

प्रशान्त शूली पर मृत्यु भेंट ले
नितान्त त्यागे तन युद्ध-भूमि में,
मनुष्य के हेतु मरे मनुष्य तो
सुयोग्य संस्थान समाप्ति का यही।

(४७)

पुकार तेरी अति दुःखदा उसे,
प्रसन्न जो प्राप्त पदार्थ में यहाँ,
मनुष्य संनद्ध[२] न मृत्यु के लिये,
न प्राप्त आगामि-भवाब्धि की तरी।

---

[१]मृत्यु। [२]तय्यार।

(४८)

अवश्य ही मृत्यु भय-प्रदा उसे
खड़ा किनारे पर जो भवाब्धि के,
न लौट कोई जन दे सका पता
पयोधि-गांभीर्य्य, धरित्रि-व्यास का।

(४९)

अदीर्घ है जीवन दुःख से भरा,
प्रसून फूला, मुरझा गया यथा,
प्रभात में आकर ओस-बुंद-सा
सरोज को कान्त किया, चला गया।

(५०)

समृद्धि की, यौवन की, सँगीत की,
विहार की, उत्सव की, प्रशान्ति की,
प्रतानिनी[१] से चल मृत्यु-सर्पिणी
प्रसह्य पीती जन-प्राण-वायु है।

(५१)

समस्त भू के बहु भोग से अभी
थका न था जीव, परन्तु मृत्यु ने,
स-वेग खींचा पर-लोक की जहाँ
नितान्त-एकान्त-प्रशान्त-भूमि है।

---

[१]लता।

(५२)

प्रकाश से उद्गम अन्धकार का,
विमूढ़ता-निर्गम ज्ञान से जहाँ,
हुई समुत्सारित हानि-लाभ से
कही गयी मृत्यु धरित्रि में वही।

(५३)

लपेट लो विष्टर[1] स्वीय देह में
अनन्त-स्वप्न-स्थित चित्त को करो,
प्रशान्त सो लो उस मृत्यु-भूमि में
असंख्य प्राणी जिसमें शयान[2] हैं।

(५४)

धरित्रि के दुःख-विषाद-शोक से
प्रशान्ति पाते नर मृत्यु-धाम में,
जहाँ हवा काल-विहंग-पक्ष की
उन्हें सुलाती व्यजनानुचारिणी[3]।

(५५)

प्रभो ! महा-दुःख-प्रपूर्ण दृश्य है,
कि अन्त में प्राण उड़ें मनुष्य के
किसी दशा में (यह जानना वृथा)
किसी दिशा में (यह सोचना वृथा)।

---

[1]बिस्तर। [2]लेटे हुये। [3]पंखा के समान।

(५६)

उगा करे या कि दिनेश अस्त हो,
उठा करें मेघ समाप्त हों न हों,
न प्राणियों का उदयास्त शंक्य है,
सदैव है जीवन-मृत्यु से घिरा ।

(५७)

शरीर में विस्मृति मृत्यु ने भरा
मनुष्य का जीव गया द्यु-लोक को,
परन्तु तो भी मृत सो हुआ नहीं
समाप्ति में जागृत स्वप्न हो गया ।

(५८)

समाप्त ऐसी स्मृति कौन जो न हो,
समाप्त ऐसा दुख कौन जो न हो,
परन्तु जाती स्मृति काल-धर्म से,
प्रशान्त होता दुख काल-क्रम से ।

(५९)

मनुष्य जो जीवन में थका, वही
गिरा, चला हो मृत अन्य लोक को,
विहाय भू को शिविर[१] स्थली-समा
न गेह-सी छोड़ गया द्युलोक को ।

---

[१]निवास-स्थान ।

(६०)

न मृत्यु से जो डरता कदापि है,
मरे, न चिंता कुछ भी कभी उसे,
महान है वीर वही मनुष्य जो
रहे सदा जीवित मृत्यु के परे।

(६१)

विचारिये संप्रति, लोक-नाथ[१] की
बिना अनुज्ञा[२] डसती न मृत्यु है,
मिली जभी शिष्टि[३] प्रयाण के लिए
खुले सहस्रों पथ-द्वार शीघ्र ही।

(६२)

अकाल की मृत्यु विलोक दुःख से
मनुष्य रोते मति-हीन सर्वथा,
किया गया निश्चित मृत्यु-काल क्या ?
कही गयी बिज्जु अकालकी[४] न क्या ?

(६३)

शनैः शनैः आ मकरी[५]-समान या
कि सिंहिनी-सी अति शीघ्र टूटती,
न मृत्यु का आगम चिंतनीय है,
विचिन्त्य है आगम का प्रकार ही।

---

[१]ईश्वर। [२]आज्ञा। [३]आशा। [४]बिना समय (चमकनेवाली)।
[५]नाक (जल-जन्तु) की स्त्री।

(६४)

कहाँ तुम्हारा अयि मृत्यु ! डंक है ?
चिता तुम्हारी जय ! है कहाँ, अये ?
विभीत जो सम्यक मृत्यु से न हो,
चिता-नदी-भूमि समान हैं उसे ।

(६५)

समृद्धि में पंख लगे हुए मिले,
मनुष्य का कीर्ति-प्रसार स्वप्न है,
समाधि पाते नृप भोगिराज[1] हैं
चिता जगाते नर योगिराज हैं ।

(६६)

जभी हुआ निश्चय जन्म-काल का
चले जभी प्राण, अ-सार हो गये,
प्रदीप्ति[2]-पृथ्वी-जल-वायु-व्योम भी
सभी यथा-काल हुये पृथक्-पृथक् ।

(६७)

अहो ! किसी के दश शीस क्यों न हों,
प्रताप-शाली कर बीस क्यों न हों,
कहीं छिपी सूक्ष्म-शरीर मृत्यु, जो
जगज्जयी जीत सका न जेय[3] है ।

---

[1]अत्यन्त भोग-विलास करने वाले । [2]अग्नि । [3]जीतने योग्य ।

(६८)

पुकारते मृत्यु जिसे मनुष्य हैं,
तृतीय[1] है जन्म वही कहा गया,
जिन्हें हुआ रूप-रहस्य-ज्ञान वे
न मोहते पंडित नाम-भेद से।

(६९)

निपात छूटा कि प्ररोह आ गया,
तमिस्र टूटा कि प्रकाश छा गया,
रहा न अक्षुण्ण प्रमाद मृत्यु का,
गया न तो भी भय जीव-लोक का।

(७०)

शरीर में तस्कर-तुल्य मृत्यु आ
न खींचती केवल श्वास-अर्गला,
वरंच ताली[2] नव-जन्म की लगा
दिखा रही नूतन आत्म-धाम है।

(७१)

कदापि झंझानिल से गिरा नहीं,
न कीट-द्वारा प्रणिपात[3] ही हुआ,
वरंच ज्योंही फल पक्व हो गया,
अ-प्राण हो जीवित-वृन्त से चुवा।

---

[1]'स तृतीयो जन्म' इति श्रुतिः। [2]कुंजी। [3]नाश।

(७२)

प्रसून जैसे खिल शुष्क हो गया,
गिरा, हुआ शोषित ओस-बुन्द भी,
तथैव प्राणी जब जन्म ले मरा,
गया न जानें किस देश-काल में।

(७३)

मनुष्य जाता पशु नीयमान[1]-सा
विभीत होता लख मृत्यु-वेदिका,
हुआ नहीं सिंचित मंत्र-नीर से
कि मृत्यु से भी वह मुक्ति पा गया।

(७४)

त्रिलोक-सम्राज्ञि ! पिशाचिनी ज्वरे[2] !
समस्त प्राणी तव खाद्य-मात्र हैं,
विमोहता है तुझको अवश्य ही
सँगीत-सा रोदन जीव-जन्तु का।

(७५)

दिनान्त में पूषण-रश्मि-सी चली
तन-प्रभा पश्चिम गेह-द्वार से,
जहाँ कहीं भी वह कान्ति-देहिनी
गयी वहाँ है रजनी न शाश्वती[3]।

---

[1]ले जाया गया। [2]मृत्यु। [3]सनातनी।

(७६)

उतारती जीवन की तरी जभी
किसी पुराने भव-सिंधु-तीर पै,
पुकारते हैं मरना उसे, जहाँ
थपेड का किंचित भी न ज्ञात हो ।

(७७)

विहार्य सीमा जब देश-काल की
मनुष्य अत्यन्त तमिस्र से घिरा,
तुरन्त आँखें मुँद-सी गयीं, तथा
अवश्य ही शाश्वत नींद आ गयी ।

(७८)

नितान्त झंझानिल बाल-श्वास[१]-सा
प्रतीत होता लघुता लिये हुये,
प्रचंड आह्वान-समक्ष मृत्यु के
प्रकृष्ट प्रोद्योत[२] प्रदीप का यथा ।

(७९)

द्रुमादि की निश्चित पत्र-हीनता,
क्षुपादि की सीमित पत्र-युक्तता,
परन्तु प्राणान्वित[३] की समाप्ति की
न काल-सीमा परिबद्ध हो सकी ।

---

[१]बालक की साँस के समान। [२]प्रकाश। [३]प्राणी।

(८०)

सनातनी-शान्ति-समान मृत्यु है
अगम्य दुर्दान्त प्रशान्त स्वप्न है,
अभेद्य लीला बहिरंग प्राण की
न अंत है, जीवन-अंतरंग है।

(८१)

मनुष्य को जीवन दे रही ज्वरा
तथा रही ले वह एक प्राण ही,
अतः डरे क्यों नर मृत्यु से कि जो
नितान्त आदान-प्रदान-कार्य्य है।

(८२)

उरस्थली जीवन-की तरंग से
समुच्च-निस्पंदित हो रही, अहो !
इसे कहें जो हम मृत्यु तो कहो
किसे कहें प्राण-प्रतिक्रिया यहाँ।

(८३)

प्रवीर या कायर, या यती, गृही,
नरेश या रंक, यहाँ समान है,
निदान, भस्मान्त शरीर के लिए
मिला खटोला[1] यह आठ काठ का।

---

[1]अर्थी।

(८४)

न वस्तु है भू पर मृत्यु नाम की
कदापि नक्षत्र न डूबते कहीं,
विभासते जाकर अन्य लोक में
प्रकाशते व्योम-किरीट में सदा।

(८५)

धरित्रि में जीवन आ प्रवेग से
कहा स-तार[१] स्वर 'मृत्यु-मृत्यु' ही;
दिगंत के कंदर बोलने लगे,
किया प्रतिध्वानित 'मृत्यु-मृत्यु' ही।

(८६)

महान आश्चर्य्य, कि जीव जो गये
विनाश के अंध-तमिस्र मार्ग से,
कदापि लौटे न, बता सके नहीं,
प्रयाण का उत्तम मार्ग कौन है।

(८७)

अनेक-रूपा बहु-वेषिणी तथा
त्रिलोक-जेत्री[२] तुझ-सी न अन्य है,
सदैव तू ही सबको बता रही
कि मृत्तिका-पात्र प्रसक्ति-पात्र हैं।

---

[१]उच्च। [२]विजयिनी।

(८८)

हटी धरित्री युग-नेत्र से जभी,
सुदृश्य आया पर-लोक का तभी,
सँगीत स्वर्गीय उसे सुना पड़ा,
उड़ा जभी मानव मृत्यु-पक्ष पै।

(८९)

यही महा नींद, जिसे न तोड़ती
धरित्रि की घोर विपत्ति भी कभी,
यही निशा है, जिसको न नाशती
प्रभात की दीप्ति किसी प्रकार से।

(९०)

न मृत्यु से है मरना अ-वीरता
न मृत्यु से है डरना प्रवीरता,
न मृत्यु से उत्तम अन्य मित्र है,
जिसे न आता मरना, मरे न क्यों ?

(९१)

विचारणीया जग-व्यापिनी दशा,
यही सभी से परिचिन्तनीय है,
कि मानवों का अभिशाप है यही
डरें, मरें, आगम देख मृत्यु का।

(९२)

विनष्ट होता पहले प्रमोद है,
पुनश्च आशा करती प्रयाण है,
विभीति होती फिर नष्ट अंत में,
स-धैर्य्य आती जब मृत्यु सामने ।

(९३)

मनुष्य का निश्चित अंतकाल है,
न जानते कायर क्रूर कल्मषी;
पुनः पुनः हो मृत जी रहे वही
जिन्हें कि जीना मरना समान है ।

(९४)

जगज्जयी भूपति भी न जानते,
कहाँ-कहाँ विस्तृत मृत्यु-राज्य है,
प्रसार आ-सप्त-समुद्र-शेखरी
दिनान्त-रात्र्यन्त-प्रमाण व्याप्ति है ।

(९५)

किरीट से मंडित मंडलेश[1] भी
निदान होते सब भस्मसात हैं,
निदेश देती जब मृत्यु है उन्हें
चितास्थ होते वह क्रीतदास-से ।

---

[1]राजा ।

(९६)

कहे गये शोष-प्रवाहिकादि[१] हैं
प्रसिद्ध प्राणान्तक सर्वलोक के,
सुने गये घातक हैं समाज के
विकार सारे कफ-पित्त-वात के।

(९७)

परन्तु हैं सेवक-सेविका सभी
अनेक जो अन्य उपाय मृत्यु के,
पिपीलिका कंटक भी समर्थ हैं
मनुष्य-प्राणान्तक कार्य के लिए।

(९८)

दिनान्त आया, रवि अस्त हो चला,
परन्तु आशा फिर भी बनी रही;
समीर निःशब्द, विहंग शान्त हैं,
परन्तु एका दिग-तारिका उगी।

(९९)

"सु-तारिके ! सांध्य-किरीट-रत्न तू
अदृष्ट होते रवि की सखी, तथा
प्रसाधिनी शान्ति-प्रमोद-प्रेम की,
प्रसन्न आशा-सम तू प्रकाशती।

---

[१]रोग-विशेष।

(१००)

"तुझे विलोका, खग नीड को चले
लखा तुझे तो पशु गेह को गये,
मुझे-तुझे देख स्वकीय धाम को
चले, हुआ भान दिनान्त में, प्रिये !

(१०१)

"अदीर्घ निद्रा जन की सुषुप्ति है,
सुदीर्घ निद्रा प्रतिरूप मृत्यु का,
पलंग-शय्या अति सौख्य-दायिनी
श्मशान-शय्या बहु दुःख-कारिणी ।

[द्रुतविलंबित]

(१०२)

निधन[1] की सुधि ही अपनोदती[2]
जगत में भव-ताप मनुष्य की,
उतर जीवन की मद-कारिता
मरण में परिवर्तित हो गयी—

(१०३)

दिवस भी परिवर्तित हो चला
रजनि के जिस भाँति स्वरूप में,
मन प्रसन्न नृपाल-कुमार का
परम खिन्न हुआ उस भाँति से ।

---

[1]मृत्यु । [2]दूर करती ।

(१०४)

सुलभ जीवन का न रहस्य है,
अति सुदुर्लभ मृत्यु-विभेद भी,
कुछ पता न चला, तब अंत में
उठ चले गृह को वह शीघ्र ही ।

———

बारहवाँ सर्ग

[वंशस्थ]

(१)

कुमार के यौवन-रूप-रंग पै
चढ़ी चतुर्विंशति[1]-वार्षिकी प्रभा;
चतुर्दिशा क्षत्रिय-कुंड में चली
विवाह-चर्चा बहु धाम-धाम में।

(२)

मनुष्य कोई कहते स-तर्क थे,
न भूप जाते यदि देव-लोक को
अवश्य उद्वाहित[2] देख पुत्र, वे
प्रमोद पाते पहले प्रभूत ही।

(३)

कलत्र कोई कहती स-खेद थी,
स-जीव[3] होती जननी कुमार की,
प्रमुग्ध होती लख पुत्र की वधू
न देर होती इतनी विवाह में।

---

[1]चौबीस। [2]विवाहित। [3]जीवित।

(४)

कनिष्ठ-भ्राता-प्रति प्रेम जेष्ठ का
यथा कहा देख पड़ा नहीं यहाँ,
न व्याह को चिंतित युद्धवीर हैं,
विचारते थे यह अन्य लोग भी ।

(५)

परन्तु क्या ज्ञात किसी मनुष्य को
प्रगाढ़ अंतर्हित[1] भाव देव के,
तथापि आये कुछ दूत भ्रातृ के
विवाह-आवश्यकता बता चले ।

(६)

विवाह-प्रस्ताव प्रकाशते हुये,
सँदेश-संवाहक-वृन्द ने कहा,
"प्रभो ! तुम्हारे प्रिय ज्येष्ठ-भ्रातृ को
अभीष्ट है कौतुक[2] आपका लखें ।

(७)

"प्रसिद्ध है, जीवन-अंतरिक्ष में
प्रदीप्त पत्नी-पति चंद्र-सूर्य्य-से,
प्रसन्न यात्रा कर साथ-साथ ही
प्रमुग्ध होते निज कक्ष में सदा ।

---

[1]गुप्त । [2]विवाह ।

(८)

"प्रयाग के संगम-सा विवाह है,
जहाँ नदी दो अति गाढ़ प्रेम की,
पृथक्-पृथक् दो रँग हैं तथापि वे
अभिन्न हो के बहती अजस्र हैं।

(९)

"विवाह की सुन्दर अक्षर-त्रयी
निबद्ध आभा जिसमें त्रिलोक की
विवाह की सीमित अंगुलीय[1] की
असीम है जीवन-संपदा जहाँ।

(१०)

"विवाह है उत्तम सौख्य विश्व का,
विवाह है पार्थिव स्वर्ग सत्य ही,
विवाह है प्रेम-प्रकाश-प्रक्रिया,
विवाह ही जीवन का प्रसाद है।

(११)

"कलत्र-द्वारा खिंचता मनुष्य है,
मनुष्य द्वारा चलती कलत्र है,
अभीष्ट हो जीवन-लक्ष्य-वेध तो
कलत्र ज्या[2] और मनुष्य चाप है।

---

[1]अँगूठी। [2]प्रत्यंचा।

(१२)

"कलत्र जो एक विहंग-बाल है,
मनुष्य भी एक रसाल डाल है,
कलत्र जो चारु लता प्रियाल[1] की,
मनुष्य तो मंजु पयोद-काल है।

(१३)

"मनुष्य के जीवन-अर्ध-भाग की
प्रपूरिका शीलवती कलत्र है।
कलत्र की अर्ध-गुणानुवृत्ति का
मनुष्य ही पूरक; सत्य जानिये।

(१४)

"वही यहाँ युग्मक[2] सौख्य-पूर्ण हैं,
समष्टि देते ग्रह भाग्य से जिन्हें,
सु-चित्त, सौभाग्य, तथैव व्यक्तिता
अवाप्त होते बस एक में जिन्हें।"

(१५)

मनुष्य वे सिद्ध-सरस्वतीक को
पढ़ा रहे थे कखगा[3] विवाह की;
परन्तु तारे हँस अन्तरिक्ष में
विलोकते थे व्यवहार सृष्टि के।

---

[1]कदंब। [2]जोड़ा, दंपति। [3]प्रारंभ।

(१६)

कुमार ने शान्त स्वभाव से सुना
सँदेश सांसारिक ज्येष्ठ-भ्रातृ का,
पिता न माता, इस हेतु तात की
अवश्य इच्छा परिपालनीय थी।

(१७)

"परन्तु मैंने गुरु वृद्ध से सुना
विवाह-पंचत्व[1] करस्थ दैव के;
इसीलिए भाग्य-विधान पूँछता
सदैव मौहूर्तिक[2] वृन्द से रहा।

(१८)

"कहा किसी ज्योतिष-विज्ञ ने कभी
विवाह होगा मम तीस वर्ष में,
तथा मिलेगी मुझको वधू कि जो
सुभाग्य से ही मिलती मनुष्य को।

(१९)

"सुविज्ञ वे कोष्ठक[3]-भाल-हस्त[4] के
बता चुके हैं मुझको त्रिबार यों,
अवाप्त होगी वनिता अवश्य ही
सु-कन्यका भूपति ज्ञान-देव की।

---

[1]मृत्यु। [2]ज्योतिषी। [3]जन्म-चक्र। [4]सामुद्रिक।

(२०)

"कहा किसी ने यह भी विचार के
कि प्राप्त होगी प्रथमा सुता मुझे,
न अन्य कोई उस-सी स्वजा[1] मुझे,
न अन्य कोई मुझ-सा पिता उसे।

(२१)

"अतः कहें जाकर आप तात से
मदीय आयोजन हस्त-सूत्र[2] का,
अतः परे जो कुछ इष्ट दैव को
वही सभी से परिपालनीय है।

(२२)

"उगे हुए जो ग्रह अंतरिक्ष में
बने विधाता नर-भाग्य के यही;
अवाप्त होते जन कर्महीन को
न शातकुंभी[3] फल व्योम-वृक्ष के।

(२३)

"कि तारकों के मिष व्योम देखता
मनुष्य का भाग्य धरित्रि-वक्ष पै,
कि कर्म-संचालन-सूत्र-धार हो
नृ-लोक के नायक दीप्त हो रहे।"

---

[1]कन्या। [2]विवाह। [3]स्वर्णिम।

[द्रुतविलंबित]

(२४)

विहग-तुल्य स-तारक रात्रि की
उड़ प्रतिक्षण थीं घड़ियाँ रही,
पर अलौकिक भाग्य कुमार का
अयुत[१]-नेत्र नभस्थल देखता।

(२५)

गगन कोटि विलोचन से रहा
लख मनो-गति राजकुमार की,
ज्वलित जीवित नीलिम खंड-से
छबि प्रसार रहा प्रति-याम था।

(२६)

उस घड़ी घन में लिपटी हुयी
प्रकट चारु हुयी नभ-चंद्रिका
जलद घूँघट से सरके तथा
गिर पड़े पट-से तम-केश पै।

[वंशस्थ]

(२७)

सँदेश ले बाहक ज्ञात-पुत्र से
चले, व्यतीता कुछ यामिनी हुई,
परन्तु बैठे भगवान धाम में
महान-गंभीर-विचार-मग्न थे।

---

[१]करोड़ों।

(२८)

मनुष्य यों ही निज भाव-कर्पटी[१]
स-तर्क होके बुनता अजस्र है,
विचार का ही करघा बना हुआ,
लखो, रही है बुन चातुरी-तुरी ।

(२९)

विचार जो जागृत एकदा हुये,
पुनश्च सोना वह जानते नहीं;
प्रकाशते विद्युत-वेग से जभी
प्रदीप्त होती मति-रोदसी[२] सदा ।

(३०)

विहाय सीमा सब देश-काल की
विचार-संचार स्वतंत्र ज्यों हुआ,
कि भूमि भी है फिर भासती हमें
पवित्र-सी पुण्य-निवास-सी महा ।

(३१)

निमग्न यों गूढ़ विचार में सुधी
धरित्रि को अंबर को विलोकते
विचारते थे निज कार्य्य-योजना,
प्रशान्ति बाह्यान्तर[३] वर्तमान थी ।

---

[१]चादर । [२]भूमि-आकाश के बीच का भाग । [३]अंदर-बाहर ।

(३२)

प्रभात के पक्ष-प्रसार पै चढ़ी
गभस्तियाँ ज्यों रवि की प्रकाशती
कुमार की प्रस्तुत भाव-शैलियाँ
विराजती थीं हृदयाधिरूढ़ हो ।

(३३)

अनादि भू और अनन्त कालके
नितान्त निर्मोक[1] विचार व्याप्त थे,
बना रही थी जिन की गंभीरता
कि सूनु हैं वे अमृतत्व-कुक्षि के।

(३४)

विचार, जो सृष्टि-प्रवाह मोड़ते,
प्रसूत होते वह आत्म-तत्त्व से,
कुमार की जो हृदयानुभूति को
बना रहे थे परिपुष्ट नित्य ही ।

(३५)

महान हैं वे नर जो विचारते
कि तत्त्व जो पुदगल[2] से वरिष्ठ हैं,
प्रसिद्ध आध्यात्मिक हैं वही कि जो
धरित्रि-संचालन में समर्थ हैं ।

---

[1]नग्न । [2]भौतिक पदार्थ ।

(३६)

कुमार-मस्तिष्क-सुमेरु-शीर्ष से
विलोकते मानस-वीचि-भंगिमा
विचार के अंशु[1] प्रफुल्लता-भरे
खिला रहे थे मन-पुंडरीक यों ।

(३७)

सुषुप्ति में निर्जर[2] ज्यों कभी-कभी
सु-स्वप्न देते शुभ आत्म-बोध के,
विचार-कूटस्थ कुमार-चित्त में
प्ररोहते आत्मिक भव्य भाव थे ।

(३८)

उठे अकस्मात विचार चित्त में
निशादि में स्वच्छ निशान्त-स्वप्न-से,
जिनेन्द्र-आत्मा ढक तथ्य से गयी
यथा जल-प्लावन से अरण्य-भू ।

(३९)

परन्तु आयी ध्वनि ढोल झाँझ की
विषाण-मंजीर-मृदंग-चंग की,
विवाह से आ वर लौट ग्राम में
स-मोद आया नृप-द्वार भेंट को ।

---

[1]किरण । [2]देवता ।

(४०)

अनेक थे नर्तक यान-संग में
प्रसिद्ध गोत्री[1]-गण साथ-साथ ही,
युवा नवोद्वाहित अश्व-पीठ पै
सवार था, मौर सजा ललाट में।

(४१)

कुमार के सोदर[2] ज्येष्ठ नंदि ने
बुला लिया शीघ्र कनिष्ठ-बंधु भी;
किया नवोद्वाहित ज्ञाति-बंधु ने
प्रणाम, दी भेंट विवर्त[3] हो गया।

(४२)

कुमार लौटे निज धाम को तभी,
प्रसन्नता देख सभी समाज की;
महान ही श्रीवर हृष्ट-चित्त था,
वधू मिली थी मन-मोद-दायिनी।

(४३)

लखा गया हर्षित-चित्त यान में
पिता उसी श्रीवर का निविष्ट था,
सु-पुत्र का गेह बसा स्व-भाग्य से
हुआ बड़ा ही कृत-कृत्य[4] अंत में।

---

[1]संबंधी। [2]सगा भाई श्वे० मान्यतानुसार। [3]लौट (गया)। [4]धन्य।

(४४)

प्रसन्न होगी जननी विलोक के
नवा वधू के वदनारविन्द को,
निवेश में कार्य्य-सहायिका मिली
महान होगी वह हृष्ट-मानसा।

(४५)

अवश्य सौभाग्यवती हुई वधू,
जिसे मिला श्रीवर रूपवान यों,
अवश्य कालान्तर में स्व-चित्त से
बिसार देगी स्व-पिता-निवास भी।

(४६)

सभी बराती अति हृष्ट-चित्त-से,
प्रकाम मिष्टान्न मिला, सुखी हुये,
समस्त, सारांश, प्रसन्न-चित्त थे,
विवाह आयोजन पूर्ण हो चुका।

(४७)

निदान ऐसे बहु भाव ले चले
कुमार आये अपने निवेश में,
व्यतीत यामा[1] युग याम हो चुकी
सुषुप्ति में वीर प्रशान्त हो गये।

---

[1]रात्रि।

(४८)

कुमार सोये, सब विश्व सो गया,
कि सृष्टि सारी प्रकृतिस्थ हो गयी,
कि योग-निन्द्रा-वश रात्रि देख के
निसर्ग-नाड़ी कुछ मंद हो गयी।

(४९)

प्रदीप देखो, प्रहरी[1]-समान ही
विलोकता लौ प्रभु से लगा-लगा,
समस्त तारे बरसा रहे मुदा
शनैः शनैः स्वस्थ समृद्धि व्योम की।

(५०)

मनुष्य के निद्रित-चित्त-राज्य पै
निशीथ ! तेरा अधिकार ख्यात है,
प्रसार जोत्स्ना-मय चान्द्र[2] जाल को
रहा फँसाता मन-मीन तू सदा।

(५१)

शिशुत्व का आसव पी प्रमत्त हो,
प्रगाढ़ निन्द्रा-वश ज्ञात-पुत्र है,
निबद्ध हैं यौवन नेत्र-कंज में
मरंद[3]-माध्वी[4]-रस-मत्त भृंग दो।

---

[1]पहरा देनेवाला। [2]चंद्रमाका। [3]पराग। [4]मदिरा।

(५२)

निशीथ-जाता मन की विमोहिनी
सहोदरा-तुल्य महा सुषुप्ति की
मनस्क[1]-चिंता-परिहारिणी हुई
शयान निद्रे ! सँग ज्ञात-पुत्र के ।

(५३)

कुमार-आत्मा कितना कृतज्ञ है,
त्वदीय; निद्रे ! इस काल ला सकी
सुधी सुपर्वा अमरेन्द्र-लोक से
जुड़ा अनागार[2] समाज साधु का ।

(५४)

महान ताली कलधौत[3]-धाम की
निबद्ध-स्वातन्त्र्य, सुषुप्ति तू सदा,
असीम तेरा अवरोध चित्त पै,
बना मनो-सिंधु रही प्रशान्त तू ।

(५५)

सुषुप्ति की, ओस गिरी अनन्त से
गिरा दृगों पै मधु-भार शान्ति का,
सरोज वे संपुट हो गये अभी
बने कभी जो कि महा प्रफुल्ल थे ।

---

[1]मनकी । [2]निर्गृही । [3]स्वर्ण ।

(५६)

कुमार सोते सुख-शान्ति से रहें
चतुर्दिशा में प्रहरी अमर्त्य हैं,
सुपर्व आशीर्वचनावली मुदा
झरा करें तारक-वृन्द भाल पै।

(५७)

सुषुप्ति में राजकुमार को हुआ
प्रमोद-कारी वह दिव्य स्वप्न जो
न सत्य था, किन्तु असत्य भी न था,
अदृष्ट था, किन्तु, तथापि दृष्ट था।

(५८)

दिखा पड़ा स्वप्न कि एक भूप की
सुता 'यशोदा' अति ही गुणागरी,
पवित्र-चारित्र्य-मयी सुशोभना;
हुआ उसी से उनका विवाह है।

(५९)

व्यतीत दो वर्ष हुये विवाह के
मनोज्ञ कन्या 'प्रियदर्शना' मिली,
विवाह-चिन्ता जिसकी हुई उन्हें
अभी न थी यद्यपि आठ वर्ष की।

(६०)

पुनश्च आया वटु[1] एक स्वप्न में
कुमार से यों कहने लगा, "प्रभो !
सुना किसी भूपति ज्ञान-देव की
सुता-यशोदा भवदीय गेह में।

(६१)

"जिसे यशोदा कहते सभी, वही
महीपजा का उपनाम-मात्र है
सभी जनों ने सब ज्ञाति-बंधु ने
रखा महासिद्धि प्रसिद्ध नाम है।

(६२)

"प्रभो ! नहीं है 'प्रिय दर्शना' सुता
पुकारते हैं सब 'शान्ति' नाम से
विवाहके योग्य हुई अभी नहीं
परन्तु सौभाग्य भविष्य-गर्भ में।"

(६३)

"न स्वप्न है स्वप्न स-स्वप्न के लिए,
सुषुप्ति है जागृत जीव के लिए,
दशा तुरीया[2] जिसको अवाप्त हो
सुषुप्ति है, जागृति है न स्वप्न है।"

---

[1]ब्रह्मचारी। [2]चतुर्थी।

(६४)

कुमार के आत्म-स्वरूप-सूर्य्य के
चतुर्दिशा सुप्ति-तुषार-अंक में,
सु-स्वप्न यों बिम्बित इन्द्रचाप-से
दिखा रहे थे चल-चित्र लोक के।

(६५)

मनुष्य की आयु अनुत्तमोत्तमा[1]
विनिर्मिता है उस सूक्ष्म तत्त्व से
कि जो बनाता उस स्वप्न-जाल को
कि जो फँसाता भव-भूति-भाव में।

(६६)

निशीथ का वारिधि, स्वप्न की तरी,
अचूक दिक्सूचक-यंत्र ऋक्ष का,
प्रयत्न का वायु मनोनुकूल था
महासुधी नाविक भागधेय[2] के।

(६७)

कुमार-संदृष्ट अनूप स्वप्न की
सदा रहेगी चल सूत्र-धारिता;
हुआ समारब्ध यहाँ सु-कर्म, जो
अवश्य होगा परिपूर्ण भी वहाँ।

---

[1]अच्छी और बुरी। [2]भाग्य।

[द्रुतविलंबित]

(६८)

यदि कहीं बिकते वह स्वप्न हों,
प्रकट जो करते सुख-दुःख हैं,
क्रय किन्हें कर विक्रय भी किन्हें
परिनिवर्तन श्रेय स्व-गेह में।

(६९)

रजनि में लसता वह स्वप्न है
दिवस में बनता वर दृश्य जो
कुसुम है क्षुप-पल्लव-रूप जो
सुमन जो लसता, वह घास है।

(७०)

मनुज-जीवन भाव समुद्र है
सुखद स्वप्न लसे बहु द्वीप-से;
उस अ-वायु, अ-शब्द अ-लोक में
दृढ़ सुषुप्ति-तरी[1] पहुँचा सकी।

(७१)

अति अविश्वसनीय सुषुप्ति के
वचन में यदि निश्चय हो कहीं
निकट काल भविष्यत में सभी
मनुज लें सुन वृत्त स्व-भाग्य का।

---

[1]नौका।

(७२)

हृदय में स्थित राजकुमार के
सुखद भाव उठे इस काल जो,
सुर उठा उनको निज शक्ति से
गगन में द्रुत लेकर जा रहे।

[वंशस्थ]

(७३)

कुमार जागे कुछ आज पूर्व ही,
जगा दिया या सुख-स्वप्न ने उन्हें,
अभी त्रियामा अवशेष[1] थी, अभी
बिछे हुये अंबर-मध्य ऋक्ष थे।

(७४)

तमिस्र-सिंहासन पै निशीथिनी[2]
निरंशु-शोभामयि वर्तमान थी,
न नेत्र-कर्णादिक के लिए, अभी
चतुर्दिशा में विषयानुभूति थी।

(७५)

तना चँदोवा सिर पै तमिस्र का
जड़ा हुआ मौक्तिक के समूह से;
अहो ! न जाने किस दिव्य हस्त ने
किया जिसे निर्मित आदि-काल से।

---

[1]बाक़ी। [2]रात्रि।

(७६)

सहस्र-नेत्रा क्षणदा[1] कुमार को ।
विलोकती थी अति प्रेम-भाव से
प्रबुद्ध हो और निमीलिताक्ष हो
बड़ी-घड़ी वे अवलोकते रहे ।

(७७)

स-शब्द जिह्वा प्रति ऋक्ष में न क्या ?
न बात क्या वे करते कुमार से ?
विचार-मध्याह्न हुआ निशीथ में
प्ररूढ़ वारेश-समान बुद्धि है ।

(७८)

नभस्थ सप्तर्षि विलोकते कि जो
विभूति देते नर भाग्यवान को,
कुमार को जो कि समृद्धि दे रहे
बना रहे राज्य मनोनुकूल हैं ।

(७९)

उन्हें फँसाना भव-मुक्ति[2]-मीन है,
बना रहे हैं अति पुष्ट जाल वे,
न टूट जाये वह एक खोंच में
स-देह हो जीवन-मुक्त पारधी[3] ।

---

[1]रात्रि । [2]जन्म-मरण । [3]शिकारी ।

(८०)

मनुष्य मस्तिष्क स्वतंत्र वस्तु है,
स-शक्त ऐसा कि यथा समुच्च है,
प्रगाढ़ छाया जिसकी प्रलंबिनी
प्रसारती दीर्घ प्रभाव विश्व में ।

(८१)

स्व-भाव पक्षी-सम चित्त-नीड में
फुला रहा स्वीय पतत्र है अभी,
कभी उड़ेगा जग को प्रबोधता
लिए हुए सद्गति व्योम-चारिणी ।

(८२)

अवश्य ही धन्य अनन्त व्योम है,
विलोकता जो कि असंख्य नेत्र से
कुमार को देकर दीप्ति, जो बनी
अनूप आशा नव-प्रात-कारिणी ।

(८३)

चतुर्दिशा, ईश्वर से विनिर्मिता
विराजमाना यह सृष्टि धन्य है,
अतीव धन्या वह सृष्टि भी कि जो
मनस्थिता है, अनुभूयमान[1] है ।

---

[1]जिसका अनुभव हो रहा है ।

(८४)

कि शक्ति-मत्ता उस शक्तिमान की
स-नीतिमत्ता - विभुता - अभिज्ञता,
बनी नटी-सी अभिनृत्य-लीन है
वसुंधरा सुन्दर रंग भूमिमें ।

(८५)

धरित्रि दुःखान्त-सुखांत नाटच है
मनुष्य आवर्त-निवर्त[१] पात्र हैं,
कृतज्ञ होना उस सूत्र-धार का
सदैव सामायिक साधु कर्म है ।

(८६)

पतत्र[२] से है लघु वायु, वायु से
शिखी, शिखी से लघु भाव भासते ।
विलोकिये, है लघु भाव से यही
जिसे सभी संसृति नाम दे रहे ।

(८७)

कुमार ! तेरे मन को धरित्रि के
पदार्थ खीचें न कदापि वेग से,
यहाँ कहीं संग्रह में न सौख्य है
रसाक्त[३] है केवल एक त्याग ही ।

---

[१]आने-जाने वाले । [२]पंख । [३]रस-युक्त ।

(८८)

कुमार ! तेरे रस-सिक्त चित्त को
न सृष्टि का दृष्टि-विकल्प खींच ले।
धरित्रि का भोग वही मनुष्य ले
जिसे सदा हो भव-भोग भोगना।

[द्रुतविलंबित]

(८९)

इस प्रकार निशीथ कुमार ने
सजग काट दिया ध्रुव ध्यान में;
फिर जगी नभ में सुखदा उषा
सुमन[1] के मनके अधिदेव के।

[वंशस्थ]

(९०)

निशा चली पूर्व प्रभात हो गया,
विहंग बोले, द्रुम डोलने लगे,
परन्तु डोला न कदापि लक्ष्य से
प्रगाढ़ भावान्वित चित्त, देव का।

(९१)

धरे हुये दक्षिण गुल्फ[2] वाम पै
तथैव होंठों पर निष्ठ[3] तर्जनी,
गंभीर मुद्रा मुख की महान थी,
शयान थे चिन्तन-दत्त-चित्त वे।

---

[1]देवता। [2]टखना। [3]रखी हुई।

(९२)

कठोर था चित्त महान सत्य-सा,
विचार-धारा दृढ़ शुद्ध न्याय-सी,
विवाह हो ? दिव्य विवाह-योजना
बना रही मानस एक-तन्त्र थी ।

(९३)

विवाह हो ? दिव्य विवाह क्यों न हो,
बरात हो ? देव-समाज क्यों न हो,
बनें नहीं पाणि-गृहीत मुक्ति क्यों
न देव हों श्रीवर-मंडलेश[1] क्यों ।

(९४)

अखंड भोगी बनता अवश्य, तो
अखंड ही हो दृढ़ ब्रह्मचर्य्य भी,
अखंड हो प्रेम, अखंड ज्ञान, तो
अखंड-सौभाग्यवती प्रिया मिले ।

(९५)

प्रभात में संबल[2] और आ गया
प्रदीप्त तारागण और हो गये,
दिवा-धरित्री प्रतिबिंबिता हुई
समुच्च आसक्ति, दृढ़ा विभावना[3] ।

---

[1]दूलह-समाज में श्रेष्ठ । [2]उत्तेजना । [3]विचार-धारा ।

(९६)

धरित्रि की भी करुणामयी गिरा
हुई अभिव्यक्त पिकी-निनाद से,
चतुर्दिशा शब्द समीर ले चला,
समा गयी जागृति भूमि-लोक में।

(९७)

प्रभात में कोकिल-कंठ-व्याज से
वसन्त के पादप कूजने लगे,
अनूप अध्यात्म-संगीत काकली[१]
उडेलते थे प्रति कर्ण-कुंज में।

(९८)

निसर्ग-आत्मा बन कुंज-कोकिला
विवाह-संगीत अलापने लगी।
प्रफुल्ल शाखी पर मंजरी हुई
खिली बनों में कलिका गुलाब की।

(९९)

कि कोकिलाएँ रत-काकलीक[२] हैं
कि लीन केका-रव में मयूरियाँ;
कि वप्र-घाटी-धुनि[३]-अद्रि-व्योम में
विवाह-संवाद-प्रसार हो रहा।

---

[१]कोकिला की ध्वनि। [२]गायन-लग्न। [३]नदी।

(१००)

पिकी ! तुम्हारी यह गीति शाश्वती
सुनी गयी संतत राव-रंक से,
अतः मुझे दो वह तान, जो सदा
मुदा सुनी जाय जिनेन्द्र-भक्त से ।

(१०१)

पिकी ! तुम्हारे स्वर जो मनुष्य में
प्रसन्नता हैं भरते दिवौकसी[1]
प्रबुद्ध नक्षत्र प्रकाश से हुये
सरस्वती के मृदु बीन-राग से ।

(१०२)

प्रसन्न प्रत्येक पलाश वृक्ष का,
प्रवुद्ध प्रत्येक तरंग नीर की;
बन-प्रिये ! मत्त कूहूक से हुये
कुमार-हृत्तन्त्र मधु[2]-प्रभात में ।

(१०३)

अनूप आयोजन स्वीय व्याह का
पड़े-पड़े सोच रहे कुमार थे,
कि पूर्व में ब्रह्म-मुहूर्त की त्विषा
स-हर्ष आयी उदयाद्रि-शृंगपै ।

---

[1]दैवी । [2]वसन्त ।

(१०४)

वसन्त-दूती फिर भी अधीर-सी
सुना रही थी निज गान देव को,
वहीं कहीं आ शुक अंतरिक्ष से
कुमार-उद्‌बोधन-लीन हो गया।

(१०५)

प्रसन्न गाती उड़ने लगी शुकी
कुमार को वृत्त बता-बता यही
कि मैं न होती यदि मंजुपाठिका[१]
न कीर गाता बन रक्त-तुंड यों।

(१०६)

सँगीत उड्डीन कि कीर-कंठ से
कि कीर उड्डीन संगीत से हुआ,
अहो ! इसी तर्क-वितर्क में तभी
विहाय शय्या विबुधाग्रणी[२] उठे।

[द्रुतविलंबित]

(१०७)

चिमिक[३] ! तू मुझसे भय-भीत हो
न उड़ या कर पक्ष-निपात ही,
श्रवण-हेतु त्वदीय सँगीत मैं
उठ उपस्थित हूँ शयनांक में ।

---

[१]शुकी। [२]आर्य्य-पुत्र। [३]तोता।

(१०८)

जिस प्रकार सुनिर्मल व्योम है,
विमल हैं जिस भाँति गभस्तियाँ,
स्वर तथैव त्वदीय प्रशस्त है,
तरल तान महा अभिराम है

(१०९)

चिमिक ! दे छिपने पिक पत्र में,
यह प्रकाश त्वदीय निकेत है,
निवस तू इस में मृदु गा, यथा
ऋक विनिःसृत श्रोत्रिय[१]-कंठसे।

(११०)

प्रतनु[२] दूत ! पथी नभ-मार्ग के
कर तिरस्कृत तू महि-वेदना,
अवनि की बहु-मूल्य समृद्धि से
अधिक सौख्य भरा तव गान में।

(१११)

गगन में इस भाँति उड़ा करे
मन यथा निज-तंत्र यतीन्द्र का
मृदुलता-मय गायन गा, सखे !
वचन ज्यों सुख-धाम मुनीन्द्र के।

---

[१]वेद-पाठी। [२]क्षुद्रशरीरी।

तेरहवाँ सर्ग

[द्रुतविलंबित]

(१)

समय था दिन के अवसान[1] का
तरणि-तेज तिरोहित[2] हो चला
तरु-शिखास्थित वृन्द विहंग के
चहचहाकर गायन गा उठे ।

(२)

पवन शीतल-मंद सुगंधि से,
सरित भी निशि-वासर-संधि से,
कह चले अपनी-अपनी कथा,
बह चले कुछ मंथर[3] चाल से ।

(३)

कुसुम पै कण आकर ओस के
दल भिगोकर निश्चल हो गये,
गगन में उडु-वृन्द शनैः शनैः
टिमटिमाकर संस्थिर-से हुये ।

---

[1]समाप्ति । [2]लुप्त । [3]धीमी ।

(४)

विटप - पल्लव - पुंज - हरीतिमा
हरित और हुई उस काल में,
सलिल की कुछ नीलिम वीचियाँ
असित और हुईं नभ-नील-सी ।

(५)

झुक प्रदीप-प्रदर्शिनि साँझ ने
दिवस की अति भव्य समाधि पै,
अ-तुल स्नेह-समेत स-धूम-से
गगन-भू पर दीप जला दिये ।

(६)

समय शान्त, प्रशान्त निकेत था,
विगत-ध्वान्त नितान्त कुमार थे,
निधन से जननी-जनकादि के
परम खिन्न, परन्तु अ-मोह थे ।

(७)

उस घड़ी उनके मन में उठीं
परम पावन द्वादश भावना—
इस प्रकार विनिर्गत हो चली
विरति[1]-पोषण-कारिणि चिंतना ।

---

[1]विराग ।

(८)

दिवस का अवसान विलोक के
खग हुये स्व-कुलाय[1]-निविष्ट हैं,
प्रसर राज्य रहा अब शान्ति का
मन प्रशान्त हुआ, तन श्रान्त है।

[वंशस्थ]

(९)

[2]मनुष्य का जीवन मृत्यु से घिरा
युवा-अवस्था परिणाम में जरा,
शरीर है आलय रोग-सर्प का,
अनित्य है इन्द्रिय-सौख्य-संपदा।

(१०)

स्वकर्म के ही परिपाक से सदा
मनुष्य के कीलित[3] जन्म-मृत्यु हैं,
मनुष्य ही क्या, सब जीव-मात्र में
अनित्यता है, क्षति है, निपात है।

(११)

जग-त्रयी की सब सौख्य-संपदा
विनष्ट होती दिन चार-पाँच में
कहीं अभी, या कल, या परश्व[4] ही
समस्त भू की मिटती यथार्थता।

---

[1]घोंसला। [2]अथ अनित्य भावना। [3]सीमित। [4]परसों।

(१२)

मनुष्य ऐसे, जिनके निमेष से
अशेष होते प्रलयोदयादि हैं,
रहे न वे भी इस जीव-लोक में
पुनः कथा क्या कृमि-कीट की कहें।

(१३)

समुद्र के बुद्बुद-तुल्य शीघ्र ही
विनष्ट होते जब लक्ष इन्द्र भी,
हमें कहाँ जीवन दीर्घ प्राप्त हो,
खड़ा महाकाल समक्ष ही सदा।

(१४)

विनष्ट होती अचला धरा जहाँ,
विशीर्ण[1] होते हिमवान-विन्ध्य भी,
विहीन होते जल से समुद्र हैं—
पुनः कथा क्या नर-देह की कहें।

(१५)

हमें मही में जितने पिता मिले,
मिले यहाँ पै जितने स्व-बंधु भी,
न भूमि में है उतने कणांशु या
भ-चक्र में हैं उतने न ऋक्ष[2] भी।

---

[1]टुकड़े-टुकड़े। [2]तारा।

(१६)

मनुष्य अव्यक्त[1] स्व-जन्म-पूर्व में,
तथैव हैं वे सब व्यक्त मध्य में,
पुनश्च अव्यक्त विनाश के परे
अतः वृथा है परिदेवना[2] सभी।

(१७)

सु-पुत्र, पत्नी, धन, कीर्ति जीव को
प्रमोद देते यह बात सत्य है,
परन्तु हा! जीवन तो मनुष्य का
प्रमत्त-नारी-दृगपांग-लोल[3] है।

(१८)

सहस्र माता, शत कोटि पुत्र भी,
पिता असंख्यात कलत्र मित्र भी,
अनन्त उत्पन्न हुये, जिये, मरे,
न मैं किसी का, वह भी न मामकी।

(१९)

यथैव भू की हरिता तृणावली
स-हर्ष खाते बलि-जीव-जन्तु हैं,
तथैव भूला यम-यातना, अहो!
मनुष्य भारी भ्रम भोग भोगता।

---

[1]अदृष्ट। [2]रोना-पीटना। [3]चंचल।

(२०)

प्रसन्न होते मति-मंद द्रव्य से
तथैव रोते बन रंक अंत में,
विवेक द्वारा यदि वे विलोक लें,
अतथ्य संपत्ति, विपत्ति भी वृथा ।

(२१)

समुच्च वातायन गोपुरादि[१] से
सुसज्जिता तुंग-शिखा हवेलियाँ;
विनष्ट होतीं क्षण एक में, तदा
कहो, कहें क्या, नर-देह की कथा ।

(२२)

सरोज-पत्र-स्थित नीर-बुन्द-सी
मनुष्य की आयु अतीव चंचला,
अवश्य ही दंशित[२] व्याधि-व्याल से,
दशा महा-शोक-हता त्रिलोक की ।

(२३)

मनोहरा स्त्री, अनुकूल मित्र भी,
महा सुधी बाँधव, योग्य भृत्य भी,
गजेन्द्र-बाजी सब नाशवान हैं
नरेन्द्र-मंत्री सब ह्रासवान हैं ।

---

[१]गवाक्षादि । [२]काटा हुआ ।

(२४)

इसी लिए जीव सुधी वरण्य जो
प्रवृत्त होते जिन-धर्म-मार्ग में,
न विश्व में संतत सौख्य-लाभ है,
अतः विचिन्त्या[1] परमार्थ-साधना।

[द्रुतविलंबित]

(२५)

जिस[2] प्रकार फँसा हरि[3]-दंष्ट्र में
अबल बालक युक्ति-विहीन हो,
उस प्रकार बँधा नर विश्व में
शरण पा सकता न अ-धर्म की।

[वंशस्थ]

(२६)

अतः सुधी मानव को त्रिलोक में
शरण्य अर्हन्त-पदाब्ज हैं सदा;
जिनेन्द्र-पूजा, तप, दान, जाप ही
अजस्र रत्न-त्रय प्रेय हैं उसे।

(२७)

जिनेन्द्र के ही उपदेश गेय हैं,
मुनीन्द्र के ही पद-पद्म ध्येय हैं,
जिनेन्द्र-सिद्धान्त सदैव श्रेय हैं,
अतः धरो ध्यान मुनीन्द्र-मार्ग का।

---

[1]चिन्तनीय। [2]अथ अशरण-भावना। [3]सिंह।

(२८)

सदैव मोक्ष-प्रद जैन-धर्म है,
तथैव रत्न-त्रय-साध्य मोक्ष है,
वितान[1] है मोक्ष अनन्त सौख्य का
प्रतान है सौख्य अनादि शक्ति का।

(२९)

मनुष्य जो केवल-ज्ञान-देव को
विहाय सेते सुर नाम-मात्र के,
सदैव पाते गति दुर्दशामयी
न मुक्त होते भव-रोग-दोष से।

(३०)

अमोघ रत्न-त्रय के प्रभाव से
अवाप्त होती वह मुक्ति जीव को
अनन्त - आनंद - समुद्र - रूपिणी
प्रसिद्ध है जो जिन-धर्म-शास्त्र में।

[द्रुतविलंबित]

(३१)

मनुज[2] को भव दो, मृत एक है,
अपर में न तु संभव-शक्ति ही,
भटकता युग-संसृति-मध्य में
शरण-हीन अनादृत जन्तु-सा।

---

[1]तनाव, चाँदना। [2]अथ संसारानुप्रेक्षा।

[वंशस्थ]

(३२)

अनादि है विश्व, अनंत लोक है,
(सुना गया भव्य-अभव्य जीव से)
विमूढ़ को जो सुख-दुःख-पूर्ण है,
नितान्त दुःखाश्रय विज्ञ मानते।

(३३)

विमूढ़ पाते सुख भोग में सदा
न विज्ञ होते विषयादि-लुब्ध हैं,
प्रतीति सारे भव-भोग की, अहो !
निकृष्ट होती नरकादि-हेतु है।

(३४)

मनुष्य के कर्म, शरीर-धर्म भी,
यहाँ न ऐसे जिनको यथार्थ ही,
किये नहीं त्यक्त-गृहीत जीव ने
प्रसिद्ध ऐसा यह द्रव्य-लोक है।

(३५)

प्रदेश ऐसा इस लोक में नहीं
न जीव उत्पन्न हुए, मरे जहाँ;
सुविज्ञ-प्राणी-गण में इसीलिए
प्रसिद्ध प्रामाणिक क्षेत्र-लोक है।

(३६)

न काल ऐसा इह लोक में बचा,
न जीव उत्पन्न हुये, मरे जहाँ,
इसी लिए विज्ञ-समाज में यहाँ
प्रसिद्ध वैज्ञानिक काल-लोक है ।

(३७)

न योनि ऐसी इस भूमि में बची
जिसे न संप्राप्त हुआ स्व-जीव हो,
अतः जिसे पंडित विश्व मानते,
प्रसिद्ध भू में भव-लोक है वही ।

(३८)

सदैव प्राणी भ्रमते त्रिलोक में
स्व-कर्म मिथ्यात्व-समेत पालते,
समेटते अर्जित पाप-पुंज हैं,
प्रभावशाली यह भाव-लोक है ।

(३९)

विमुक्ति-दाता जिन-धर्म-श्रेष्ठ है,
अतः करो पालन यत्न से इसे,
अनूप रत्न-त्रय-रूप मोक्ष का
निधान[1] है केवल-ज्ञान सर्वशः ।

---

[1]भांडार ।

[द्रुतविलंबित]

(४०)

सुहृद[1]-संग सदा रहना हमें
वितरता बल-बुद्धि-विवेक है,
पर असंग-प्रसंग परेश का
विदित आत्म-समुन्नति-हेतु है ।

[वंशस्थ]

(४१)

सदैव प्राणी इस मर्त्य-लोक में
रहा अकेला, रहता अ-संग है;
रहा करेगा यह संग-हीन ही
प्रसंग होगा इसका न अन्य से ।

(४२)

असंग लेता नर जन्म विश्व में
असंग ही है मरता पुनः पुनः;
सदा अकेला सुख-दुःख भोगता
न अन्य साझी उसका त्रिलोक में ।

(४३)

अ-संग ही सौख्यद भोग भोगता,
अ-संग ही दुःखद रोग भोगता,
सदैव प्राणी यमराज-संग में
असंग जाता, फिरता अ-संग है ।

---

[1]अथ एकत्व-भावना ।

(४४)

सदा अकेला करता कु-कर्म है
कुटुम्ब के पालन-हेतु विश्व में,
इसीलिए पुद्गल-पाप-बंध से
अवश्य पाता नरकाधिकार है।

(४५)

परन्तु जो मानव मुक्त-संग हो
लगे हुये सम्यक-दर्शनादि में,
व्यतीत भू में करते स्व-कर्म हैं,
कहे गये केवल-ज्ञान-संयमी।

(४६)

असंग भू में करते व्रतादि हैं,
असंग सारे तप-जाप साधते,
वही महा विज्ञ मनुष्य अंत में
अतीव पाते सुख पुण्य-बंध से।

(४७)

विभूतियाँ, जो सुर-लोक-सिद्ध हैं,
महान निःश्रेयस-संपदा तथा
विशुद्ध कैवल्य-प्रदा त्रिलोक में
अवाप्त होतीं गतियाँ विदग्ध[1] को।

---

[1]पंडित।

(४८)

मनुष्य रत्न-त्रय से अवश्य ही
विनाशता कर्म-अकर्म-भावना;
सदैव एकत्व-प्रधान भाव ही
प्रभावशाली अपवर्ग[1]-हेतु है ।

[द्रुतविलंबित]

(४९)

मनुज[2] है प्रकृतिस्थ अवश्य, पै
इतर है जग आत्म-स्वरूप से,
जगत है जड़, चेतन जीव है,
परम पुद्गल-तत्त्व अ-तत्त्व है ।

[वंशस्थ]

(५०)

मनुष्य ! तू अन्य समस्त जीव से
स्व-कर्म से भी अतिरिक्त है सदा,
पदार्थ सारे महि-नाक-पाक के
सखे ! असंबद्ध त्वदीय प्राण से ।

(५१)

सदैव कर्मोदय से मनुष्य को
अवाप्त होते जग-जाति-बंधु हैं,
पिता तथा पुत्र, कलत्र, मित्र भी
न साथ जाते, रहते न संग में ।

---

[1]मुक्ति । [2]अथ अन्यत्व-भावना ।

(५२)

शरीर ही, जो निज अंत-रंग-सा,
न साथ देता जब है मनुष्य का,
कहें कथा क्या बहिरंग-वर्तिनी
कुरंग-नेत्रा त्रिनता[1] कलत्र की।

(५३)

स्व-चित्त, जो पुद्गल-कर्म-जन्य है,
स्वचित्त—संकल्प-विकल्प-युक्त जो,
तथैव वाचा युग-भांति की, सखे !
विभिन्न है निश्चय जीव-तत्त्व से।

(५४)

मनुष्य के कर्म विभिन्न जीव से,
विभिन्न ही हैं परिणाम कर्म के,
सभी नरों के सुख-दुःख आदि भी
विभिन्न हैं आत्म-स्वरूप से सभी।

(५५)

विभिन्न हैं ज्ञान-स्वरूप जीव से,
स्व-कर्म की साधन-मात्र इन्द्रियां,
विभिन्न है सम्यक राग-द्वेष भी
विकर्म सारे अथवा अ-कर्म भी।

---

[1]तीन स्थानों से टेढ़ी।

(५६)

अतः करो यत्न-समेत भावना
शरीर-द्वारा उस आत्म-तत्त्व की,
अनादि, अक्षय्य, अनंत जो सदा
निरीह,[1] निर्धारित निर्विकार जो—

[द्रुतविलंबित]

(५७)

अशुचि[2]-पूर्ण शरीर मनुष्य का,
विदित जो मल-मूत्र-पखाल है,
अगरु से न तु चंदन-लेप से
विमलता-मय भासित हो सका।

[वंशस्थ]

(५८)

शरीर है निर्मित सप्त-धातु से,
निधान है जो मल-मूत्र आदि का;
स-मोह सेवा इसकी अकार्य्य है
सु-बुद्धि-संबोधित ज्ञानवान से।

(५९)

यहाँ बुभुक्षा जलती प्रकोप से,
यहाँ पिपासा पलती प्रदाह से,
विनाशती यौवन अग्नि काम की
जरा न जाती जब आचुकी यहाँ।

---

[1]इच्छा-हीन। [2]अथ अशुचि-भावना।

(६०)

शरीर ही है बिल काम-सर्प की,
यही कुटी निश्चित राग-द्वेष की,
कुगंधिता है स्वयमेव ही नहीं,
वरन् बनाती शुचि-हीन वस्त्र भी।

(६१)

शरीर चाहे अति हृष्ट-पुष्ट हो,
तथैव हो सुन्दर शौर्य्यवान या
परन्तु होता परिणाम में सदा
अभूरि[1] मुष्टिगत[2]-भस्म-तुल्य ही।

(६२)

शरीर का पालन रोग-मूल है,
शरीर का शोषण योग-दातृ है,
इसीलिए क्यों अपवित्र देह से
करो न संपन्न स्व-धर्म-साधना।

(६३)

अनित्य देहस्थित नित्य जीव है,
करे न निःश्रेयस-प्राप्ति कार्य क्यों ?
अवस्थिता केवल ज्ञान में सदा
नितान्त ही मुक्ति महा पवित्र है।

---

[1]थोड़ी। [2]मुट्ठी भर।

[द्रुतविलंबित]

(६४)

सलिल[1]-आस्रव हो जिस कूप में
विगत-नीर कभी बनता नहीं;
इस प्रकार स-कर्म मनुष्य को
कब अवाप्त हुई गति निर्जरा ?

[वंशस्थ]

(६५)

स-राग आत्म-स्थित राग-भाव से
समागता पुद्गल-राशि कर्म हो,
शरीर में आगत दुःख-दायिनी
प्रसिद्ध है आस्रव नाम से सदा ।

(६६)

स-छिद्र जैसे जल-यान में, जभी
प्रविष्ट होता जल, डूबती तरी;
तथैव कर्मागम से मनुष्य का
अवश्य होता विनिपात[2] अंत में ।

(६७)

अतः सुनो आस्रव-हेतु भी, जिन्हें
महान ही दुष्कर नाशना हमें;
प्रमाद-उत्पन्न अनर्थ मूल जो
प्रसिद्ध मिथ्यात्व समस्त भूमि में ।

---

[1]अथ आस्रव-भावना । [2]नाश ।

(६८)

कहा गया पंच प्रकार का वही
प्रधान है आस्रव हेतु कर्म का,
प्रसिद्ध जो द्वादश भाँति की यहाँ
अनर्थिनी[1] घोर विराग-हीनता।

(६९)

प्रमाद जो पंचदशी विभक्ति[2] का
तृतीय है हेतु; चतुर्थ और भी—
सभी कषाएँ सब दुष्ट योग, जो
न दूर होते शतशः प्रयत्न से।

(७०)

उन्हें सदा सम्यक-ज्ञान-हेति[3] से
विनाशना ही ध्रुव वीर-धर्म है,
सुदीर्घ कर्मास्रव-द्वार ज्ञान से
न बन्द जो है करता प्रयत्न से—

(७१)

न पाप से मुक्ति मिली कभी उसे,
न पा सका केवल-ज्ञान-लाभ सो,
मनुष्य कर्मास्रव रोकता तभी
विमुक्ति रत्न-त्रय से समेटता।

---

[1]अनर्थकारी। [2]विभाजन। [3]शस्त्र।

[द्रुतविलंबित]

(७२)

मनुज[1] योग-तपादिक-यत्न से,
निगम-आगम के स्थिर ज्ञान से,
कर निराश्रित आस्रव कर्म का
स-मुद रत्न-त्रयी फल भोगते।

वंशस्थ]

(७३)

मुनीश योग-व्रत-गुप्ति आदि से
स-यत्न कर्मास्रव-द्वार रोकते;
वही क्रिया संवर नाम-धारिणी
विमुक्ति-संपादन में अमोघ है।

(७४)

चरित्र जो तेरह भाँति का, तथा
स्व-धर्म, जो एक-नव[2] प्रकार का
प्रसिद्ध जो बारह भावना यहाँ
परीषहाघातक हेतु ख्यात[3] जो,

(७५)

विशुद्ध सामायिक पाँच भाँति का,
विमर्ष जो उत्तम ज्ञान-ध्यान का,
यही सभी सत्तम हेतु जानिये
अमोघ[4] कर्मास्रव के निरोध में।

---

[1]अथ संवर-भावना। [2]दश। [3]बाईस। [4]अव्यर्थ।

(७६)

मुनीश, जो संवर-दत्त-चित्त हैं,
प्रकाशिता है जिनकी गुणावली,
वही मही के चल[1] धर्म-वृक्ष हैं,
तथा उन्हीं के अवदात[2] ध्यान हैं।

[द्रुतविलंबित]

(७७)

द्विविध कर्म-विनाश-प्रवृत्ति का
सुफल है वह संपति-प्राप्ति, जो
न मिलती इस भू-तल में उसे
कर न जो सकता प्रभु-भक्ति है।

[वंशस्थ]

(७८)

अतीत[3] से संचित कर्म-राशि का
विनाश होना अविपाक निर्जरा;
कही गयी सिद्ध मुनीन्द्र से सदा
अवश्य ही संग्रहणीय साधना।

(७९)

स्वभाव से ही वह, जो मनुष्य के
स्वतंत्र कर्मोदय-काल में उठे,
सदा परित्याग करे स-यत्न सो
विकार-युक्ता सविपाक निर्जरा।

---

[1]चर। [2]श्वेत। [3]अथ निर्जरानुप्रेक्षा।

(८०)

यथा-यथा योग-तपादि यत्न से
करे यती नित्य स्व-कर्म-निर्जरा;
तथा-तथा ही उसके समीप में
अवश्य आती शुभ मोक्ष-इंदिरा ।

(८१)

सभी सुखों की खनि[1] ख्यात निर्जरा,
विमुक्ति-योषा-प्रद ज्ञात निर्जरा
विकर्म-यामा-कृत प्रात निर्जरा
सु-ध्यान-भू में अवदात निर्जरा ।

[द्रुतविलंबित]

(८२)

सलिल[2] से, महि से, नभ से, तथा
अनिल से जग पावक से बना;
भुवन सप्त अधोपरि राजते
सदन के सु-मनोहर खंड-से ।

[वंशस्थ]

(८३)

यथा अधोलोक, तथैव अंघ्रि है,
यथैव है मध्य, तथैव नाभि है,
यथैव है ऊर्ध्व, तथैव शीर्ष है,
यथैव ब्रह्माण्ड, तथैव पिंड[3] है ।

---

[1]खान । [2]अथ लोक-भावना । [3]शरीर ।

(८४)

त्रिलोक है, या जग सप्त-लोक है,
अनन्त है संसृति या कि सान्त है,
दिनेश-राकापति भी न जानते
समस्त तारे अनभिज्ञ-भेद[1] हैं।

(८५)

निधान है स्वर्ग अनन्त सौख्य का,
विधान है नारक कोटि दुःख का,
इसीलिए सात्त्विक धर्म-ग्रंथ में
प्रशंसनीया अपवर्ग - साधना।

(८६)

सभी नगों की गणना असार है,
नदी-नदों का कहना निरर्थ है,
अयुक्त है सागर-मंथना, अतः
स-सार है केवल-ज्ञान-भावना।

[द्रुतविलंबित]

(८७)

परम[2] दुर्लभ संभव[3] लोक में,
विदित है नर-योनि सुदुर्लभा;
अति अलभ्य शुभा गतिधर्म की
बहु अलभ्य महा पद बोधि का।

---

[1]रहस्य न जाननेवाले। [2]अथ बोधि-दुर्लभ भावना। [3]जन्म।

[वंशस्थ]

(८८)

चतुर्विधा जो गतियाँ कही गयीं,
सुदुर्लभा है प्रथमा दशा उन्हें;
प्रसिद्ध जो मानव-योनि नाम से
अलभ्य, चिंतामणि-ज्यों समुद्र में ।

(८९)

सुदुर्लभा भी यह आर्य्य-भूमि है,
अलभ्य उत्पत्ति मनुष्य की यहाँ,
सुदुर्लभा उत्तम वंश-प्राप्ति भी,
सुदुर्लभा दीर्घ मनुष्य-आयु है;

(९०)

अलभ्य पंचेन्द्रिय-पूर्णता यहाँ,
सुदुर्लभा निर्मल-बुद्धि-प्राप्ति भी;
अलभ्य है मंद-कषाय-भावना
सुदुर्लभा मुक्ति-प्रदा विभावना[1] ।

(९१)

तथा, मही-मध्य अलभ्य श्रेष्ठता
अलभ्य है धार्मिकता मनुष्य को;
अलभ्य है सम्यक-दर्शनात्मिका[2]
विशुद्धि, विज्ञान-चरित्र आदि भी ।

---

[1]विचार । [2]सम्यक-ज्ञान-वाली ।

(९२)

इसीलिए धर्म महान श्रेष्ठ है,
इसीलिए कर्म-प्रधान विश्व भी,
लगे हुये मानव धर्म-कर्म में
विचारते केवल-ज्ञान-मर्म्म हैं।

(९३)

विमुक्ति पाना इस जन्म-मृत्यु से
महान निःश्रेयस ख्यात विश्व में;
सदैव श्रेयांस[1] स्व-धर्म भावना,
तथैव प्रेयांस[2] जिनेन्द्र-वंदना।

[द्रुतविलंबित]

(९४)

शिथिल[3] जीव निकाल भवाब्धि से
अमित अर्हत् का पद दे; वही
विदित है प्रभुता प्रभु-धर्म की
विपुल मुक्ति-प्रदायिनि लोक में।

[वंशस्थ]

(९५)

क्षमा-दया, संयम, सत्य, शौच से,
तपाऽऽर्जव-त्याग-विरागभाव[4] से,
कि युक्त जो मार्दव, ब्रह्मचर्य से
दशांग-शोभी जिन-धर्म-रूप है।

---

[1]श्रेय। [2]प्रेय। [3]अथ धर्मानुप्रेक्षा। [4]अकिंचनता।

(९६)

स्व-धर्म धर्मी यदि पालता रहे,
अ-कर्म कर्मी यदि घालता रहे,
अवश्य ही हो उसको अवाप्त तो
विमुक्ति-दात्री सुख-संपदा सदा।

(९७)

स्व-धर्म ही श्रेय सभी प्रकार से
विधर्म ही हेय मुमुक्षु[1] के लिए;
न इन्दिरा ही मिलती उसे, अहो !
अवाप्त होती जिन-धर्म-संपदा।

(९८)

अलभ्य जो संपति है त्रिलोक में,
न भाग्य-आमंत्रित जो हुई कभी,
अवश्य होती वह स्वीय योषिता,
जिनेन्द्र के धर्म-प्रभाव से सदा।

(९९)

सदा सवित्री[2]-सविता[3] स्व-धर्म है
स्व-धर्म भ्राता, स्व-सखा स्व-धर्म है,
स्व-धर्म विद्या धन भी स्व-धर्म है,
स्व-धर्म सर्वोत्तम—सर्व-श्रेष्ठ है।

---

[1]मोक्ष की इच्छा वाला। [2]माता। [3]पिता।

(१००)

स्व-धर्म चिन्तामणि-कल्पवृक्ष है,
स्व-धर्म संपूजित कामधेनु भी,
स्व-धर्म ही भू-गत स्वर्गलोक में,
स्व-धर्म ही श्रेय, विधर्म हेय है।

(१०१)

अतः करो पालन नित्य धर्म का,
पदाब्ज-प्रक्षालन सत्य-धर्म का,
न प्राप्त होती जिसके बिना कभी
मनुष्य को केवल-ज्ञान-कल्पना।

[द्रुतविलंबित]

(१०२)

हृदय-अंबुधि को जिनराज के
अति तरंगित-सा करता हुआ
विरति - पोषक - द्वादश - भावना–
निचय[1] निश्चय ही उठने लगा।

(१०३)

अब महान प्रमत्त, गजेन्द्र का
दृढ़ अलान[2] हुआ श्लथ[3], देखिए;
चल न दे यह कानन को कहीं
रह गया अवरोध न अंत में।

---

[1]समूह। [2]बंधन। [3]ढीला।

चौदहवाँ सर्ग

[वंशस्थ]

(१)

न काल जाते लगता विलम्ब है,
विहाय चारित्र्य न काल-लब्धि भी,
विलोकते विश्व-दशा सनातनी
कुमार को त्रिंशति[1] वर्ष हो गये।

(२)

दिखा पड़े काल-महा-समुद्र में
कि वर्ष वे त्रिंशति बुन्द-तुल्य थे,
त्रिलोक में कौन पदार्थ है कि जो
न काल के नाशक हस्त में गया।

(३)

कुमार पीछे फिर देखने लगे
कि दृष्टि से ओझल भूत ज्यों हुआ;
शनैः शनैः काल-कपाट[2] तीस वे
हुये सभी मंद-विराव[3] बन्द थे।

---

[1]तीस। [2]किवाँड़े। [3]चुपके।

(४)

कपोत के चंचल पक्ष-पात से,
शशाद[1] की निस्वनिता उड़ान से,
खगेन्द्र[2] के निर्मल स्वर्ण पंख-से
अतीव तीव्रा द्रुत चाल काल की।

(५)

अभी हुआ जन्म, प्रतीति-सी हुई,
हुये अभी ही गत मातृ-पितृ भी,
कुमार को यों गति काल की लगी
कि चंचला-चालित शीघ्र-गामिता।

(६)

प्रशान्त हो स्वप्न-प्रवाह में यथा
मनुष्य जाता बहता अनन्त को,
कुमार जाते उस भाँति तैरते
भविष्य-काल-प्लव[3] में शयान हो।

(७)

विभीत होके प्रभु-ब्रह्मचर्य्य से
कराल कालांगुलि[4] कोमला चली,
पड़ी न रेखा जिसकी ललाट पै,
न मौलि में अंकित लेखनी हुई।

---

[1]बाज। [2]गरुड़। [3]नौका। [4]समय की उँगली।

(८)

परन्तु तो भी वह सोचने लगे
कि चाप-धारी अति दक्ष काल है;
अजिह्म-गामी जिसके कलंब[1] है,
जरा न जानें किस बाण से चली।

(९)

न ज्ञात कार्य्यालय गुप्त काल का
विचित्र ऐसा यह तन्तुवाय[2] है;
अतीव है निस्वन कार्य-योजना
महान है कौशल मूक हस्त का।

(१०)

कुचक्र भी काल-विहंग का सदा
सभी पदार्थों पर रम्यमाण[3] है,
गिरा रहा उज्वल पक्ष से यहाँ
विभावरी[4] शाश्वत अंधकार की।

(११)

अभिन्न मैत्री इतनी मनुष्य की
हुई किसी भी सुर से कभी नहीं;
बता सके निश्चित रूप से कि जो
अवाप्त होगा दिन दूसरा मुझे।

---

[1]बाण। [2]कपड़ा बुननेवाला। [3]चलनेवाला। [4]रात्रि।

(१२)

त्रिधा प्रसिद्धा गति काल-चक्र की,
विचारिये तो, गति-हीन भूत है;
अमंद जाता जब वर्तमान, तो
शनैः शनैः आ मिलता भविष्य भी।

(१३)

अपार कालोदधि की तरंग के
समान हैं वर्ष असंख्य, जानिये;
मनुष्य के रोदन-अश्रु-क्षार[1] से
महान खारी जल है भवाब्धि का।

(१४)

उठी तरंगें अति घोर वेग से
कि मर्त्य-सीमा-सब ओत-प्रोत है;
प्रशान्ति में भी छल से न हीन, तो
कराल क्या प्लावन की कथा कहें।

(१५)

कुमार का मानस काल-लब्धि से
हुआ अभिप्रेरित कर्म-नाश में,
विचार आया, क्षय मोह-शत्रु का
अवश्य रत्न-त्रय-हेति[2] से करें।

---

[1]लवण। [2]हथियार।

(१६)

पवित्र चारित्र्य बिना वृथा गया
धरित्रि में जीवन तीस वर्ष यों;
गये यथा-काल न पुष्प जो चुने
विनष्ट होते उपयोग के बिना।

(१७)

पुरा हुये श्री ऋषभादि देव जो
प्रसिद्ध तीर्थंकर लोक-लोक में,
सुदीर्घ आयुष्य उन्हें अवाप्त था—
परन्तु मेरी अति न्यून आयु है।

(१८)

कृतार्थ-जन्मा प्रभु नेमिनाथ हैं
स्वकीय जो जीवन सूक्ष्म जान के
अरण्य को जा सुकुमार आयु में,
मुमुक्षु[1] थे, जीवन-मुक्त हो गये।

(१९)

मनुष्य साधारण आयु पा यहाँ
वृथा गँवाते दिन अंध-बुद्धि हैं;
तथैव ज्ञान-त्रय-नेत्र-वान मैं
बिता रहा वासर अज्ञ-तुल्य हूँ।

---

[1]मोक्ष पाने की इच्छावाले।

(२०)

हुई न आत्मा यदि कर्म के बिना,
न रंच ज्ञान-त्रय-प्राप्ति-लाभ है।
न मोक्ष-लक्ष्मी-मुख जो विलोकता
बने उसी के दृग गोल ग्राव[1] हैं।

(२१)

गिरे मनीषी यदि मोह-कूप में
वृथा हुई तो सब ज्ञान-अर्जना;
किया करे कोटि उपाय सर्वदा
न प्रज्ञता[2] से कृत कर्म छूटता।

(२२)

मनुष्य मोहादिक भाव में भले
मरे, न तो भी अघ में प्रलिप्त हो;
कि मोह उत्पादक राग-द्वेष का,
कि राग-द्वेषादिक घोर पाप हैं;

(२३)

मनुष्य वैराग्य-कृपाण-धार से
संहार दे मोह दुरन्त शत्रु को;
कि मोह ही सर्व-अनर्थ-मूल है,
अनर्थ का है फल पाप-बद्धता।

---

[1]पत्थर। [2]पांडित्य।

(२४)

वही जयी हैं, नर धीर-वीर जो;
वही कृती हैं जन धर्मवान जो;
धरित्रि में दुर्जय काम जीतते
न वश्य[1] होते जन लोभ-क्रोध के।

(२५)

विरक्त हो शैशव-यौवनादि से
मुमुर्षु[2] प्राणी गृह-बंध त्यागता;
प्रसक्त हो मोक्ष-सुखानुभूति में
मुमुक्षु योगी तजता शरीर है।

(२६)

नितान्त ही यौवन में प्रशान्त जो
वही सुधी शान्त-स्वभाव मान्य है;
हुईं जरा में जब जीर्ण धातुएँ[3]
प्रशान्ति आयी, तब कौन लाभ है?

(२७)

शिशुत्व है दूषित निर्विवेक से,
युवात्व है गर्हित काम-भाव से,
रुजत्व से है जरता[4] कलंकिता;
अतीव सोपद्रव जीवनायु हैं।

---

[1]वशीभूत। [2]मरने का इच्छुक। [3]रक्त-मांसादिक। [4]वृद्धता।

(२८)

विलोकता अश्मक[1] रत्न-बुद्धि से,
तथैव, कान्ता-कुच कंज-कोष-से,
शरीर पंचात्मक आत्म-भाव से,
विमोह-लीला नर की निहारिये।

(२९)

गया जहाँ तत्त्व मिला वहाँ नहीं,
यहाँ नहीं क्या कुछ भी वहाँ नहीं,
विचार देखा, यदि है अवश्य तो,
यथार्थ कैवल्य-पदार्थ विश्व में।

(३०)

कुटुम्ब-चितामय प्राणि-मात्र के,
विनष्ट होते गुण-शील हैं तथा,
यथा भरा नीर अपक्व कुंभ में
विनष्ट होता अति अल्प काल में।

(३१)

लगी सटांकी[2]-सम घात में जरा,
अमित्र हैं रोग समस्त शत्रु-से;
शनैः शनैः आयु व्यतीत हो रही
न मोह में सुप्त मनुष्य जागता।

---

[1]पत्थर। [2]सिंहिनी।

(३२)

स्वकीय अंगुष्ठ उरोज-भ्रान्ति से
यथैव पीता शिशु ज्ञान-हीन है;
तथैव प्राणी सुख-भ्रान्ति में पड़ा
न पा सका सार असार विश्व का।

(३३)

निदान ऐसे बहु भाव चित्त में
हुये समुत्पन्न अनेक बार जो,
कुमार ने निश्चय देह-त्याग का
किया, हुये तत्पर आत्म-बोध में।

(३४)

स-भृत्य-मित्रादिक जेष्ठ भ्रातृ को,
सभी जनों को, सब पौर-वृन्द को
बुला लिया सादर ज्ञात-पुत्र[1] ने
समूढ[2] सारे प्रभु-धाम में हुये।

(३५)

सभी नरों के सँग छद्म-वेष में
सुपर्व लौकान्तिक आ गये वहीं,
प्रविष्ट उत्तुंग निवेश में हुये
यथेच्छ-वार्ता-श्रवणार्थ देव से।

---

[1]श्री महावीर। [2]एकत्रित।

(३६)

कुमार ने सादर प्रेम-वाक्य से
किया मुदा स्वागत बंधु-वर्ग का;
सु-योग्य दे आसन स्नेह-भाव से
उन्हें बिठाया बहु भाँति मान दे।

(३७)

विनम्र-भावान्वित बद्ध-हस्त वे
सुधी क्षमा-याचन-दत्त-चित्त हो,
लगे सभी से विनयानुरोध में
पवित्र-आत्मा कहने प्रसन्न हो।

(३८)

"स्व-धर्म में संस्थित-बुद्धि हो, सखे !
प्रसाद सद्भाव-समेत माँगता;
अभिन्न ! मेरे अपराध हों क्षमा
किये गये जो अनजान-जान में।

(३९)

"सभी जनों को करता क्षमा, तथा
सभी नरों से अब याचता क्षमा,
किये गये जो मन-कर्म-वाक्य से
वयस्य[1]! मेरे अपराध हों क्षमा।

---

[1]मित्र।

(४०)

"समस्त आचार्य्य, समस्त बंधु से
सभी उपाध्याय सभी स-पक्ष[1] से,
स-धर्म आगंतुक-बृन्द से तथा
हुआ क्षमा-याचन-दत्त-चित्त मैं।

(४१)

"तुम्हें दिया कष्ट सुबंधु! आज जो
क्षमा करें, था अनिवार्य्य कार्य्य भी,
सुनें सभी कारण गूढ़ ध्यान से
क्षमा करें आगम-कष्ट के लिए।

(४२)

"प्रगाढ़-निद्रा-वश आज रात में
हुये मुझे अद्‌भुत स्वप्न तीन, जो,
बता रहे जीवन-मार्ग की दिशा,
बना रहे हैं चल चित्त मामकी।

(४३)

"लखा पिता को उस वेष में कि जो
न धारते जीवन-काल में रहे,
न केश ही केवल भद्र थे, वरन्
न वस्त्र आकाश विहाय अन्य था।

---

[1]कुटुम्बी-मित्र आदि।

(४४)

"स-प्रेम वे सस्मित पूछने लगे,
'अपत्य[१]! क्या तू पहचानता मुझे ?
सुधी-विनिर्दिष्ट मदीय मार्ग की
कभी करेगा अनुवर्तना न क्या ?'

(४५)

"निषण्ण[२] देखा निज को पुनः, सखे !
स्वदेह-अभ्यंतर-अंब-अंक में
लखी स्व-माता कर फेरती हुई
सहर्ष मेरा सिर सूँघने लगी;

(४६)

"तदा दृगों में भर अश्रु की घटा
सुवृत्त मेरा सब पूँछती हुई,
विलोक आ-शीर्ष-पदान्त[३] सो मुझे
विवाह-चर्चा कुछ छेड़ती हुई।

(४७)

"विलोकती दूलह-वेष में मुझे
उतारतीं प्रेम-समेत आरती;
स-हर्षलाजा[४] मुझ पै बिखेरती
अलापती मंगल-गान थी मुदा।

---

[१]पुत्र। [२]बैठा हुआ। [३]नखशिख। [४]धान के भुने लावे।

(४८)

"तदा लखा अग्रज ! आपको, मुझे
बना रहे भूपति सार्व-भौम थे;
प्रजावती[1] थीं सँग आपके कि जो
मुझे हँसाती, हँसती स-प्रेम थीं।

(४९)

"विचार मैंने इन तीन स्वप्न पै
किया; मुझे निश्चय बन्धु ! हो गया,
विधेय आदेश मुझे यथार्थ ही,
अवश्य जाना गुरु-दिष्ट[2] मार्ग से।

(५०)

"अपत्य को पूज्य पिता-निदेशना[3]
सदैव सम्मान्य, न अन्य मार्ग है;
तथैव माता-अभिलाष-पूर्ति भी
कभी नहीं है अवहेल्य[4] पुत्र से।

(५१)

"मदीय माता करती विवाह ही
चली गयी, किन्तु न ब्याह हो सका;
मिली नहीं इच्छित कन्यका कि जो
सुदुर्लभा, सुन्दर, अद्वितीय हो।

---

[1]भावज। [2]गुरु (पिता) द्वारा बतलाये हुये। [3]आज्ञा। [4]तिरस्करणीय।

(५२)

"अखंड-सौभाग्यवती कलत्र का
अवाप्त होना कुछ खेल है नहीं;
वही बली पा सकता उसे कि जो
खपे, मरे, और जिये अनेकधा।

(५३)

"सुना किसी से वह दिव्य नायिका
विराजती तेरह-खंड[1] धाम पै
अजस्र आरोहण[2] रात्रि-वार का,
सुमार्ग भी दीर्घ त्रयोदशाब्द[3] है,

(५४)

"न शीघ्र-गामित्व, न मंद-गामिता
न यान-साहाय्य, न दंड-धारणा,
न पास पाथेय[4], न दास-मंडली,
तथापि जाना अनिवार्य्य कार्य्य है।

(५५)

"अभूरि-भिक्षा - उपवास - साधना,
अवस्त्र-से ही फिरना इतस्ततः,
शयान[5] होना महि-क्रोड में सदा
अजस्र आगे बढ़ना विधेय है।

---

[1]तेरहवाँ गुणस्थान। [2]चढ़ना। [3]१३ साल का। [4]संबल। [5]लेटना।

(५६)

"न सर्प से भीति, न वन्य जन्तु से,
न ग्राम से प्रीति, न काम धाम से,
न खड्ग से त्रास, न हेति से भिया[1]
नितान्त निःशंक प्रयाण ध्येय है।

(५७)

"जिसे सदा अक्षय सिद्धि श्रेय है,
स्व-चित्त निर्वाण-समीप नेय है,
अजस्र निःश्रेयस-कीर्ति गेय है,
अवश्य कैवल्य उसे विधेय है।

(५८)

"अतः चलूँगा कल मैं अवश्य ही
मुझे महा-सिद्धि-विवाह ध्येय है
प्रवृत्त होगी कल मार्ग[2]-मास की
पवित्र शुक्ला दशमी मनोरमा।"

(५९)

सभी जनों ने बहु खिन्न भाव से
कमार-संकल्प सुना अवाक हो,
परन्तु लौकांकित देव-मंडली
तुरन्त बोली जयकार दे उन्हें :—

---

[1]डरै। [2]मार्ग-शीर्ष मास।

(६०)

"प्रभो ! तुम्हीं क्षत्रिय-श्रेष्ठ ! धन्य हो;
तुम्हीं प्रतापी जग में अनन्य हो,
सुमार्ग कल्याण-समेत आप्त हो,
विभो ! तुम्हें सम्यक ध्येय प्राप्त हो।

(६१)

"सदा तुम्हारी जय हो दयानिधे !
समस्त हिंसा क्षय हो, कृपानिधे !
दुरन्त हो नर्त्तन नष्ट पाप का,
तुरन्त हो वर्त्तन धर्म-चक्र का।

(६२)

"विनाशकारी बन मोह-शत्रु के
प्रभो ! करोगे जग-हेतु कार्य्य जो,
वहित्र[1] होगा वह विश्व-सिंधु का,
दिनेश होगा भव[2]-रात्रि का वही।

(६३)

"स्व-धर्म-रत्न-त्रय-प्राप्त हो, प्रभो !
धरित्रि में उन्नत भव्य जीव को,
विलीन मिथ्यामत का तमिस्र हो
दिखा पड़े मोक्ष-रमा मनोरमा।

---

[1]जहाज। [2]जगत।

(६४)

"प्रभो ! तुम्हारे वचनाम्बुवाह[1] में
कठोर वैराग्य निविष्ट वज्र-सा,
किया करेगा वह रेणु-[2]सात् ही
विचूर्ण उत्तुंग गिरीन्द्र मोह का ।

(६५)

"नमामि, स्वामिन् ! गुण-सिंधु आपको
नमामि त्रैलोक्य-सुबन्धु ! आपको
नमामि भक्तोदधि-चन्द्र ! आपको
नमामि योगीन्द्र ! मुनीन्द्र ! आपको ।"

(६६)

न जेष्ठ भ्राता नृप [3]युद्धवीर की
दृगम्बु-बुन्दावलि बन्द हो सकी,
अजस्र-धारा बन नेत्र-युग्म से
बही, हुये सम्यक रुद्ध-कंठ वे ।

(६७)

घनिष्ठ प्रेमीजन भी विलोक के,
समर्थ थे अश्रु-निरोध में न जो,
शनैः शनैः रोकर भाव-वारि का
किया परीवाह[4] सभा-समाज में ।

---

[1]वचन-रूपी मेघ । [2]रेणु-तुल्य । [3]नन्दिवर्धन का गुणकृत नाम ।
[4]बाहर निकालना ।

(६८)

समस्त अंतःपुर की कुल-स्त्रियाँ,
समागता जो उस काल हो सकीं,
विलोक यों नव्य विवाह-प्रक्रिया
दृगम्बु लाजा-सम डालने लगीं।

(६९)

बनें सभी मौक्तिक स्वाँति-बुन्द वे
पवित्र, ज्योतिर्मय, स्वच्छ, सात्त्विकी;
गिरे सभी शुद्ध दया-पयोद से
प्रपूत दैवी कर से अजस्र ही।

(७०)

न कामिनी-कुंडल-रत्न भी तथा,
तथा न मोती नृप के किरीट में,
न रात्रि-नक्षत्र तथा लखे गये,
परार्थ-संवाहित[१] अश्रु हैं यथा।

(७१)

कुमार हो नाशक अन्य-दुःख के
करो इन्हें स्वीकृत, भेंट लो, प्रभो !
बहे तुम्हारे जिगमीषु[२] ! हेतु हैं
कृतज्ञता से परिपूर्ण भाव ही।

---

[१]दूसरे के लिए बहाये गये। [२]जाने की इच्छा वाले।

(७२)

वियोग की है यह मौन भारती,
दृगम्बु-धारा कहते जिसे सभी,
असीम स्नेहाम्बुधि की प्रकाशिनी
समा सकी जो न स-शब्द वक्ष में ।

(७३)

सभी यथा-काल चले गये तभी,
मनुष्य आगंतुक नारि-वृन्द भी,
लगे सुधी सम्यक दत्त-चित्त हो
स्वकीय-संपत्ति-प्रदान-कार्य्य में ।

(७४)

बुला-बुला याचक दूर-दूर से
कुमार देते बहु दान-मान थे;
हिरण्य, हीरा, हय, हस्ति हर्म्य[1] के
लुटा दिये केवल एक बार ही।

(७५)

सभी गुणों से अति श्रेष्ठ त्याग है,
न त्याग से उत्तम अन्य साधना,
धरित्रि में केवल एक त्याग से
सु-पूज्य होते पशु-ग्राव[2]-वृक्ष हैं ।

---

[1]हवेली (घर) के । [2]पत्थर ।

(७६)

मनुष्य का गौरव दान-मान से,
न वित्त के संचय से कदापि है;
पयोद हैं संस्थित उच्च व्योम में,
पयोधि नीची महि में पड़े हुये ।

(७७)

समस्त संपत्ति कुमार दे चुके,
हुये अयाची[1] द्विज-भिक्षु-रंक भी,
रहा न कोई गृह-मध्य पात्र भी
बची करों में कुश-मुद्रिका शुभा।

(७८)

रहा नहीं सोच हिरण्य हर्म्य का,
रही न चिंता हय की न हस्ति की;
स्वतंत्र, स्वच्छन्द, ममत्व-हीन हो
कुमार सोये सुख से निशीथ में।

[द्रुतविलंबित]

(७९)

गगन रत्न-जड़ा मधु-पात्र था,
रजनि-आसव से परिपूर्ण जो,
स-मुद पीकर, संयुत[2] हो गये
सुख-सुषुप्ति-समीहित स्वप्न से ।

---

[1]तृप्त । [2]समेत ।

[वंशस्थ]

(८०)

प्रभूत प्राची विकचीकृता[1] हुई
गुलाब का बाग खिला दिगन्त में;
समायताकार मिलिन्द-वल्लभा
महा सहा का रवि फुल्ल पुष्प था।

(८१)

उगी हुई आयत अंतरिक्ष-सी
प्रभा लिये चुंबन-सी सुकोमला
सु-भीरु-नैकटच-समान माधवी
प्रसन्नता से भरती दिगन्त थी।

(८२)

समुद्र के सुन्दर आल-[2]बाल से
उगा, उठा, और चढ़ा, बढ़ा तभी
बिखेरता स्वीय प्रसून-पंखड़ी
महा सहा-पादप-सा तमिस्रहा।

(८३)

दिनेश ज्यों-ज्यों अतिरंजना[3]-मयी
प्रभा लिये तारक-देश से बढ़ा,
प्रपात त्यों-त्यों उस अग्नि-कांड में
प्रफुल्ल-कंजारुण-पत्र का हुआ।

---

[1]फूली हुई। [2]पेड़ों का थाला। [3]अत्यंत रंगनेवाली।

(८४)

समंततः क्षत्रिय-कुंड-ग्राम के
कुमार-इच्छा प्रतिबिंबिता हुई;
विलीन आँसू गगनस्थ ऋक्ष से
हुये सभी पौर-समूह के तभी।

(८५)

कुमार-आनंदित-चित्त-उत्स[१] से
प्रमोद, हो निःसृत धाम-धाम में,
प्रगाढ़ फैला; जिस भाँति दीप का
प्रकाश होता घन अंधकार में।

(८६)

सभी गृही, और समस्त गेहिनी,
अनूप आनन्द-तरंग में बहे,
कुमार के मोक्ष-वधू-विवाह से
स-मोद होना सबका यथार्थ था।

(८७)

प्रसून, लाजा, दल, रंग आदि से
समस्त थी सज्जित दर्शकावली,
स-मोद एकत्रित द्वार पै हुई
महा प्रतापी नृप युद्धवीर[२] के।

---

[१]स्रोत। [२]भगवान के भ्राता का नाम।

(८८)

तुरन्त ही दर्शक-वृन्द से सभी
गली तथा मार्ग प्रपूर्ण हो गये
असंख्य घंटा-ढफ-ढोल-झल्लरी—
मृदंग-वीणादिक बाजने लगे।

(८९)

सजी गयी चन्द्रप्रभाख्य पालकी
कुमार लाये गुरु-भ्रातृ से गये;
प्रभूत रोमांच प्रगाढ़ प्रेम से
स-नीर थे लोचन युद्धवीर[१] के।

(९०)

कुमार होके शिविकाधिरूढ़ यों
चले जभी उत्तर ज्ञात-खंड[२] को;
प्रसून-वर्षा करने लगे सभी
समूढ़ नारी-नर हर्ष-युक्त हो।

(९१)

सजे हुये भूषण और मालिका
पवित्र पाटाम्बर[३]-युक्त देह में
प्रतीत थे श्रीवर[४]-से कुमार यों
चले जभी मोक्ष-वधू विवाहने।

---

[१]नन्दिवर्धन का गुणकृत नाम। [२]स्थल विशेष [३]रेशमी कपड़ा। [४]दूल्हा

(९२)

हुईं अनेका अनुगा[1] विलासिनी
सुवासिता, सुन्दरि, मत्तकाशिनी,
समस्त थीं मोहक-गान-तत्परा,
समेत-उल्लास, नदी-तरंग-सी ।

(९३)

कुमार थे भूप भगीरथाख्य-से
सुरापगा-बीचि-समूह अंगना;
बहा तभी उत्तर को शनैः शनैः
तरंगिणी का उलटा प्रवाह था ।

(९४)

मनुष्य सारे जयकार बोलते
महान-आशीष-प्रदान-लीन थे,
"प्रभो ! तुम्हारी जय हो, प्रमोद हो,
समस्त-कल्याण-निधान आप हों ।"

(९५)

समीर पंखा करता स-मोद था,
पयोद थे ऊपर छत्र-से तने,
चतुर्दिशा सर्व प्रजा समूढ[2] थी,
जिनेन्द्र का साज सुरेन्द्र-तुल्य था ।

---

[1]अनुगामिनी । [2]एकत्रित ।

(९६)

मनुष्य पीछे चल बातचीत में,
निमग्न थे सम्यक प्रेम-भाव में,
तपोधनों के शुभ वृत्त सोचते,
लगे हुये आपस के विचार में।

(९७)

स-हर्ष वार्ता कह 'पार्श्वनाथ' की,
अजस्र चर्चा कर 'नेमिनाथ' की,
सुना रहे थे 'नमि-नाथ' की कथा,
बता रहे थे तप 'मल्लिनाथ' का।

(९८)

प्रशंसते थे जप 'शान्तिनाथ' का,
सराहते भूरि 'अनन्तनाथ' को,
नृपाल 'श्रेयांस,' महीप 'पद्म' की
कही तपस्या 'ऋषभादि-देव' की।

(९९)

विहाय वैराग्य न चित्त में कभी
मनुष्य के निस्पृहता समा सकी;
पुरा[१] सुना है तप के प्रभाव से
विमुक्ति 'श्रीसंभवनाथ' पा सके।

---

[१]प्राचीन-काल में

(१००)

कुमार-तीर्थंकर 'वासुपूज्य' थे,
कुमार ही हैं प्रभु वर्द्धमान भी,
प्रसिद्ध भू में जिन-धर्म-अग्रणी
कुमार-संन्यस्त[1] अनेक देव हैं।

(१०१)

तुरन्त बीता पथ बातचीत में
समस्त[2] खंका-बन-मध्य आ गये
कुमार आसीन, विहाय पालकी,
हुये शिला पावन चंद्रकान्त पै।

(१०२)

विराग-संप्राप्त मुमुक्षु-भाव से
विलोक ईशान-मुखी कुमार को;
प्रशान्त कोलाहल, शान्त, चित्त हो
समस्त दीक्षा अवलोकने लगे।

(१०३)

कहे गये चौदह अंतरंग के
परिग्रहों को, दश बाह्य ख्यात जो,
विहाय आभूषण, वस्त्र, मालिका,
विशुद्ध बैठे मन-वाक्य-काय से;

---

[1] कुमारावस्था में ही संन्यास ग्रहण करनवाले। अथवा, राजकुमार जो सन्यासी हो गये। [2] समस्त प्राणी

(१०४)

प्रसिद्ध अट्ठाइस जो प्रधान है
गणावली, सो परिपालते हुये
तथैव आतापन-योग-जन्य जो—
स-हर्ष की स्वीकृत गुप्ति सो सभी।

(१०५)

सु-योनि[१] जो सर्वगुणानुवृत्ति की
विशिष्ट सामायिक संयम-क्रिया,
कुमार ने स्वीकृत की सभी तभी
समस्त-प्राणी-प्रति-साम्य-भाव से ।

(१०६)

प्रतप्त चामीकर[२] के समह-सी
कुमार की सर्व-शरीर-कान्ति थी,
महान शोभा प्रभु-अंग-अंग की
विलोकती थी जनता समुत्सुका।

(१०७)

महा तपस्यामय-तेज-पुंज से
ललाट-आभा अधिकाधिका बढ़ी,
विमुक्ति का निश्चय दृष्टि-कोण से
मयूख-सा निःसृत भासने लगा ।

---

[१]उत्पत्ति-स्थान । [२]सुवर्ण ।

(१०८)

मनोज्ञ थी उन्नत-घोण[1] नासिका
गुलाब-से मंजु कपोल-युग्म पै,
यथैव चिंता-चिमि[2] आस्य-नीड से,
उड़ी, न होगी अब सो निर्वर्तिता ।

(१०९)

प्रसन्न था आनन ज्ञात-पुत्र का
सतोगुणाभास-समेत राजता;
सरोजिनी-के-पुष्प-दलानुकारि थे
मनोज्ञ दोनों श्रुति[3] कान्ति-राशि-से ।

(११०)

त्रिरेख-संयुक्त अनूप कंठ था,
महान-शोभा-मय कंबु-सा लसा;
अलग्न अद्यावधि[4] नारि-वक्ष से
सुपुष्ट था वक्ष-कपाट सोहता ।

(१११)

प्रलंब आजानु[5] भुजा विराजती,
मनोरमा कल्प-लता-समान ही,
अलक्त दोनों कर की हथेलियाँ
लसी हुई थीं युग शोण[6]-द्रोण[7]-सी ।

---

[1]नाक की दीवार, जो बीच में उठी हो । [2]शुक । [3]कान । [4]आजतक । [5]जानु तक लटकी हुई । [6]लाल । [7]पत्ते का दोना ।

(११२)

गँभीर-आवर्त[1]-समान शोभना
उदार-भावा उदरस्थ नाभि थी;
अतीव तन्वंग[2] मृगेन्द्र-लंक-सा
नितान्त ही क्षाम[3] कटि-प्रदेश था।

(११३)

महान आश्चर्य्य ! कि नग्न जानुएँ
जिन्हें न अद्यावधि[4] देख ही सकी,
उन्हीं करों में करि के मिलिन्द-सी
विलग्न-नेत्रा बहु कामिनी हुईं।

(११४)

समागता यों जनता समुत्सुका
विलोकती थी चरणाभिरामता;
निहारती ज्यों झष-झारि[5] कंज को
पयस्विनी में अनिमेष नेत्र से।

(११५)

विलोकते ही उदयाद्रि-शृंग प
हुये दिनेशाभिमुखी सरोज ज्यों;
सभी नरों के परिबद्ध हस्त भी
हुये उसी भाँति जिनेन्द्र-संमुखी[6]।

---

[1]भौंर। [2]पतली। [3]पतला। [4]आजतक। [5]मछलियों का समूह।
[6]जिनेन्द्र के सम्मुख।

(११६)

बने सभी संस्तुति-लीन यों तभी
मनुष्य बोले कल कोटि कंठ से
"प्रभो ! तुम्हारी जय हो, तुम्हीं, विभो !
धरित्रि-गामी[१] परमात्म-रूप हो ।

(११७)

"मदादि-शत्रुंजय हो, जिनेन्द्र हो,
गुणाढ्य, रत्नाकर हो, सुरेन्द्र हो,
प्रभो ! जगत्ताप-प्रशांत-कारिणी
त्वदीय दीक्षा जन-रक्षिका बने ।

(११८)

"नमोस्तु ते, देह-सुखाति-निस्पृही
नमोस्तु ते मोक्ष-रमार्ध-विग्रही[२],
नमोस्तु ते हे अपरिग्रही,[३] प्रभो !
नमोस्तु ते भक्त-अनुग्रही, विभो !

(११९)

"अहो ! अलंकार विहाय रत्न के
अनूप-रत्न-त्रय-भूषितांग हो,
तजे हुये अंबर अंग-अंग से,
दिगंबराकार विकार-शून्य हो ।

---

[१]पृथ्वी पर चलने वाले । [२]मोक्ष-लक्ष्मी के पति । [३]असंग्रही ।

(१२०)

"समीप ही जो पट देवदूष्य है,
नितान्त श्वेतांबर-सा बना रहा,
अ-ग्रंथ, निर्द्वन्द्व महान संयमी,
बने हुये हो जिन-धर्म के [1]ध्वजी ।

(१२१)

"समेत हो नैष्ठिक ब्रह्मचर्य्य के,
निकेत हो चार प्रकार ज्ञान के,
उपेत हो वीर ! दया-क्षमादि से
प्रचेत[2] हो हे प्रभु ! शुक्ल ध्यान के ।

(१२२)

"नितान्त[3] हो इच्छुक आत्म-सौख्य के
निरीह कैसे तुमको कहें, प्रभो !
कि मोक्ष का है अनुराग, जो तुम्हें
न ज्ञात; कैसे तुम वीत-राग हो ?

(१२३)

"प्रसिद्ध-रत्न-त्रय-संग्रही ! तुम्हें
नितान्त निर्लोभ कहें, अयुक्त है ।
त्रिलोक-राज्येश बने प्रयत्न से
न कीर्तिभागी तुम राज्य-त्याग के ।

---

[1]ध्वजा वाले । [2]जानने वाले । [3]अथ व्याज-स्तुति ।

(१२४)

"चला-चला बाण स्व-ब्रह्मचर्य्य के
अभर्तृका[1] काम-वधू बना दिया
अहो ! कृपा रंचक की न पाप पै
कुमार ! ऐसे करुणानिधान हो !

(१२५)

"सदैव आशा रख मोक्ष-प्राप्ति की
हुये यशस्वी अभिलाष-शून्य हो
तुरन्त त्यागा जब वंश-बंधु,[2] तो
कुमार ! कैसे तुम विश्व-बंधु हो ।

(१२६)

"विहाय भोगावलि सर्प-भोग[3]-सी
निपीत-पीयूष-विशुद्ध-ज्ञान हो,
प्रभो ! बताये यह जाइए हमें,
व्रती ! बनें प्रोषध[4] के कि सत्य है ।"

(१२७)

प्रशान्त बैठे दृढ़ ग्राव-मूर्ति-से
नितान्त ही निश्चल-अंग ध्यान में;
उसी घड़ी ज्ञान हुआ कुमार को
अवश्य कैवल्य-अवाप्ति ध्येय है ।

---

[1]विधवा । [2]वंशके भाई लोग । [3]फन । [4]व्रत विशेष ।

(१२८)

निशेश था अर्यम[1]-ऋक्ष-योग में
मुहूर्त आया विजयाख्य था जभी
पवित्र-दीक्षा-दिन-अंत-याम में
हुये प्रतिज्ञा-परिबद्ध देव यों:—

(१२९)

"हुआ मुझे स्वीकृत साम्य आज से;
निवृत्त-सावद्य[2] चरित्र मैं हुआ;
प्रवृत्त हो सर्व-विराग-भाव में
किया करूँगा अब मोक्ष-साधना।"

(१३०)

दृढ़ा प्रतिज्ञा कर ज्ञात-पुत्र यों
मुदा विदा लेकर ज्ञाति-बंधु से,
गये जहाँ थी ऋजु-बालिका नदी
समाज सारा अनुवर्तमान[3] था।

(१३१)

कुमार पीछे फिर देख एकदा,
स-प्रार्थना हो कर-बद्ध प्रेम से,
कहा सभी से, "प्रभु-प्रेम-पूर्ण हो
करो, सखे! लोचन बन्द ध्यान में।"

---

[1]उत्तरा फाल्गुनी। [2]पाप रहित। [3]पीछे पीछे चलते हुये।

(१३२)

तभी सभी लोग निमीलिताक्ष हो
खड़े हुये एक मुहूर्त के लिए;
पुन: उघारे दृग तो न थे वहाँ
मुनीन्द्र-संपूजित साधु-अग्रणी।

(१३३)

जहाँ खड़े थे उस दिव्य भूमि पै
पड़ा हुआ कर्पट[१] देव-दूष्य था;
न ज्ञात था किन्तु किसी मनुष्य को
कुमार कैसे, किस ओर को गये।

[द्रुतविलंबित]

(१३४)

हित नखायुध[२] के गिरि-कंदरा,
विहग के हित नीड़ बने हुये,
पर महा जन-सेवक के लिए
स्व-गृह या पर-गेह कहीं नहीं।

---

[१]कपड़ा। [२]सिंह।

पंद्रहवाँ सर्ग

[वंशस्थ]

(१)

कुमार दीक्षा स्वयमेव ले चले
सभी जनों को प्रभु-भक्ति दे चले;
द्वितीय-प्रत्यूष-अलिन्द[1] में उन्हें
मिली मुदा कानन-कान्त-संपदा ।

(२)

निसर्ग का मंदिर दिव्य रूप था,
बना किसीके कर से न जो कभी;
प्रकाश से सूर्य्य-निशेश-ऋक्ष के
सु-भव्य था, सुन्दर ज्योतिमान था ।

(३)

सु-भित्तियाँ अष्ट-दिशा-स्वरूपिणी,
मनोरमा थी छत अंतरिक्ष की;
हरी-भरी घास-समेत भूमि पै
बिछा हुआ विष्टर[2] था सुहावना ।

---

[1]दूसरे प्रभात का बरामदा । [2]गलीचा ।

(४)

प्रसन्नता-संयुत वृक्ष-मंडली;
चतुष्पदाक्रान्त[१] समस्त भूमि थी;
विमोहती थी विटप-स्थिता पिकी,
प्रवाहिता थीं नदियाँ सु-शब्दिता।

(५)

मनुष्य एकान्त-निवास में जभी
विवाह लेता प्रकृति-स्मिता-वधू
अवश्य सो संगम-काल में उसे
विमोहती है कह वैखरी[२] गिरा।

(६)

सुगन्ध लाती मृदु पत्र-पुष्प में
सुरंग देती भर है कुरंग में,
विचित्र नैसर्गिक शक्ति सो, कि जो
मनोज्ञ देती स्वर है विहंग को।

(७)

धरित्रि देखो, किस मातृ-भाव से
सुला रही पल्लव जो गिरे हुये,
वनेचरों[३] को निज अंक में लिये
प्रशान्ति देती बहु भाँति है उन्हें।

---

[१]जंगली जानवरों से भरी हुई। [२]कंठ-द्वारा उच्चारित।

(८)

निसर्ग के विस्तृत गुप्त ग्रंथ को
पढ़ा जिन्होंने नर वे महर्षि थे;
खुला जभी भेद, सुपर्व थे युवा,
वसुन्धरा थी युवती मनोहरा।

(९)

"शिला स-रत्ना, खनि-युक्त शैल भी,
न चाहिये योजन-गंधिका[१] हमें;
निसर्ग! दे ज्ञान स्वकीय धर्म का,
धरित्रि में ही सुख स्वर्ग्य प्राप्त हो।"

(१०)

विचार ऐसे करते हुये सुधी
बढ़े जभी तापस-वेश देश में;
अनेक ग्रामों, नगरों, गृहों, वनों
पुरों, पथों में चलते अजस्र थे।

(११)

न मंद थी और न तीव्र चाल थी,
न इष्ट कोई पथ था, न देश था,
समक्ष भिक्षा धरते स्पृही कहीं,
गृही कराते उपवास-पारणा।

---

[१]कस्तूरी।

(१२)

निमग्न ईर्या-पथ[1]-शुद्धि में हुये;
अभक्ष्य-भक्ष्यौदन के विचार में;
अशुद्ध भिक्षान्न कि शुद्ध है, इसे
विचारते ही व्रत देव ने लिया।

(१३)

"सदा रहूँगा कर-पात्र आज से
विधेय भिक्षार्थ न प्रार्थना मुझे,
स-मौन ध्यानस्थ मुझे अवश्य ही
अनिष्ट-संस्थान-निवास त्याज्य है।"

(१४)

अतः परे[2] देव सदा मृगेन्द्र-से
विभावरी में फिरते अभीत थे
श्मशान में निर्जन भूमि में तथा
असंग शैलाटन में प्रवृत्त थे।

(१५)

कभी नदी-कूल-समूढ रेणु में,
प्रचंड-मध्यान्ह-दिनेश-ताप में,
निदाघ के पूर्ण प्रतप्त काल में
निविष्ट होते प्रभु ज्ञान-मग्न थे।

---

[1]चार हाथ आगे देखकर चलना। [2]इसके अनन्तर।

(१६)

कभी किसी पर्वत-शृंग पै तथा
प्रचंड झंझानिल के झकोर में;
स्व-देह पै कंबल धैर्य्य का धरे
बिता रहे प्रावृट् ध्यान-लीन थे ।

(१७)

कभी सुधी भीषण शैत्य में पड़े
विलोक शीतर्तु क्षुप-प्रदाहिनी[1];
स्वकीय ध्यानानल में प्रलिप्त हो
शयान होते वह रात्रि में मुदा ।

(१८)

निबाहते थे तप षष्ठ[2] भाँति के,
स-ज्ञान-कर्मेन्द्रिय जीतते हुये,
सदैव हो स्वस्थ, निलीन ध्यान में,
अजस्र कर्म-क्षय-यत्नवान थे ।

(१९)

प्रभाव में आकर आत्म-ध्यान के
समस्त कर्मास्रव बन्द हो गये;
तपे यती द्वादश योग-ताप में
सु-दीर्घ-कालावधि यत्नवान हो ।

---

[1]वृक्षों को जला देनेवाली । [2]दो दिन का उपवास ।

(२०)

हुये क्षमा में स्थिर भूमि-तुल्य ही,
प्रसन्नता निर्मल नीर-सी हुई,
कुकर्म के कानन के प्रदाह में
सुकर्म-ध्यायी ज्वलदग्नि[१]-तुल्य थे ।

(२१)

क्षुधा-तृषा-भूत प्रभूत देह के
परीषहों को वह जीतते हुये;
चले स्व-निर्दिष्ट कठोर मार्ग में
महाव्रतों को परिपालते हुये ।

(२२)

गुणावली उत्तर-मूल नाम की,
जिसे सुधी पालन में समर्थ थे,
बना रही धर्म-धुरीण थी उन्हें,
दिला रही थी सब सिद्धि-संपदा ।

(२३)

न भीति थी तस्कर की न चौर की,
कदापि शंका सरि से न सिंधु से,
समान दोनों दिन-रात्रि थे उन्हें
न विश्व-वैषम्य-विभावना[२] रही ।

---

[१]जलती हुई अग्नि । [२]धारणा ।

(२४)

इसी दशा में प्रभु को शनैः शनैः
व्यतीत थे द्वादश वर्ष हो गये,
कि एकदा रात्रि-चतुर्थ-याम में
समस्त-जन्मान्तर-ज्ञान हो गया।

[द्रुतविलंबित]

(२५)

जिस प्रकार जलौक[1] तडाग में
प्रथम छोड़ द्वितीय तृणाग्र को,
पकड़के चलता अति शीघ्र है,
बस, यही गति है जग-जीव की।

[वंशस्थ]

(२६)

जिनेन्द्र के संचित पुण्य कर्म से,
महा तपस्या, व्रत, योग, धर्म से,
परीषहों के परिपूर्ण नाश से
समंततः केवल-ज्ञान-काश[2] से:

(२७)

सुवृत्त आये सब पूर्व जन्म के,
विचार छाये भव[3]-आदि-काल के,
प्रवृत्ति हो उन्नत उत्तरोत्तरा
विवृत्ति-सी प्रस्फुटमान हो गयी।

---

[1]जोंक। [2]प्रकाश। [3]जन्म।

(२८)

स्मृति-स्थिता पूर्व-कथा हुई उन्हें
पुरूरवा-नामक व्याध थे यदा,
मिली उन्हें उत्तम धर्म-बुद्धि थी
किसी तपस्वी मुनि धर्म-बुद्धि से।

(२९)

त्रिलोक-लक्ष्मी-प्रद धर्म ख्यात है,
विहीन जो है मधु-मद्य-मांस से,
उदुम्बरों के सब भाँति त्याग से
अवाप्त होता व्रत से सदैव जो।

(३०)

हुई वही उत्थित धर्म-भावना
पुरूरवा-जीवन धन्य हो गया;
तृषार्त को ज्यों अति ग्रीष्म-काल में
उपप्लुता[1] पुष्करिणी मिले कहीं।

(३१)

पुनः जगी सुस्मृति चित्त में कि वे
पुरूरवा से सुर-तुल्य हो गये;
सुपर्व[2] से आकर जीव-लोक में
प्रसिद्ध थे देव मरीचि नाम से।

---

[1]लबालब। [2]वैकुंठ।

(३२)

'मरीचि' के जीवन में हुई उन्हें
महान इच्छा कि अवाप्त हो कहीं,
वरेण्य नेतृत्व समस्त विश्व का,
स्वकीय-सिद्धान्त-प्रचार-कार्य भी।

(३३)

पुनः जगी सुस्मृति, विप्र-वंश में
प्रसिद्ध जैसे वह 'पुष्य-मित्र' थे,
तभी किया चारु प्रचार विश्व में
अपेल्य[1] सिद्धान्त प्रमाण सांख्य का।

(३४)

तदा हुये 'अग्निसहाख्य' विप्र वे
महा-परिव्राजक धर्म-अग्रणी;
पुनः हुये ब्राह्मण 'अग्निमित्र', जो
प्रसिद्ध मीमांसक थे धरित्रि में।

(३५)

पुनः किया चिंतन वीर ने कि वे
हुये 'भरद्वाज' निरुक्त[2]-विज्ञ थे,
परिश्रमी पंडित धर्म-शास्त्र के
प्रसिद्ध थे खंडन में अधर्म के।

---

[1]न हराये जाने वाले। [2]वेद की शाखा।

(३६)

पुनः हुआ ध्यान उन्हें कि वे सुधी
प्रसिद्ध थे 'स्थावर' नाम से कभी
स-वेद वेदांग स-शास्त्र धर्म के
महान् ज्ञाता द्विज पूज्य-पाद थे।

(३७)

तथैव आयी सुधि वीर देव को
कि 'विश्वनंदी'-सुत 'विश्व-भूति' के
महा प्रतापी बलवान विक्रमी
अजेय योद्धा जब वे प्रसिद्ध थे।

(३८)

पुनः हुये संसृति में प्रसिद्ध वे
'त्रिपिष्ठ नारायण' नाम से कभी
मिला उन्हें उत्तम चक्र-रत्न था,
प्रतीक[१] जो धर्म-प्रचार-कार्य का।

(३९)

विलोक होते निज आयु क्षीण वे
असार संसार विचार चित्त में,
विराग से साधु हुये, तथा गये,
स-क्रोध त्यागा तन, देव-लोक को।

---

[१] चिह्न।

(४०)

रहे कई जीवन भूमि-पाल वे
पुनश्च त्यागी निज देह मन्यु[१] में;
अतः हुये कर्म-विपाक से तभी
प्रचंड पंचानन उच्च अद्रि पै।

(४१)

पुनः हुआ ध्यान उन्हें कि पाप से
महान हिंसा-मय कर्म से तथा
मरे, हुये वीर पुनः मृगेन्द्र ही
समुच्च जम्बूमय सिद्ध-कूट पै।

(४२)

सुतीक्ष्ण थे दंत; कराल मौलि से
मराल खाते वह एकदा मिले;
मुनीन्द्र मृत्युंजय को वनान्त में;
अतः उन्हें शिक्षण साधु ने दिया :—

(४३)

"मृगेन्द्र ! क्या तू निज पूर्व-जन्म में
त्रिपिष्ठ नारायण नाम भूप था ?
समस्त भोगे भव-भोग, तृप्त हो,
व्यतीत सारे दिन सौख्य से किये।

[१]क्रोध।

(४४)

"नितंबिनी, सुन्दरि, मत्तकाशिनी
कुरंग-नेत्रा, वर-वर्णिनी तथा
वधू नतांगी, ललिता, तुझे मिली
विलासिनी, अंचिभ्रुवा,[1] मनोहरा ।

(४५)

"परन्तु तू जा विषयाब्धि में पड़ा,
न ध्यान हा हा! कुछ धर्म में दिया;
महान पापोदय से घिरा जभी
मरा, हुआ एक प्रसिद्ध नारकी ।

(४६)

"कठोर पाये दुख, कृच्छ[2] कष्ट भी,
विषण्णता, क्लेश तथैव यातना;
महान हिंसा-प्रिय सिंह था, अतः
शरीर काटा बहु खंडशः गया ।

(४७)

"मृगेन्द्र-देही बन तीन जन्म यों
महान हिंसामय पाप भी किये,
न चेतना क्या अब भी तुझे हुई ?
न ज्ञान आया, बहु खेद है मुझे ।

---

[1]भौं ताने हुये । [2]कठिन ।

(४८)

"मृगेन्द्र ! तू दुर्गति-नाश के लिए
अतः अभी ही तज क्रूर कर्म वे,
न जो दिलाते पद स्वर्ग का तुझे,
पुनः पुनः यों भव-भार भोगता।

(४९)

"स्वकीय कल्याण-हितार्थ सिंह तू
तजे सभी खाद्य अखाद्य शीघ्र ही;
अवश्य होगा दुख दूर अंत में
तुझे मिलेगा बहु सौख्य, हे सखे !

(५०)

"मृगेन्द्र ! तेरे दश जन्म बीतते
महान होगा जन ज्ञानवान तू,
प्रसिद्ध तीर्थंकर वीर! कीर्ति के
समेत होगा धुर[1] धर्म-चक्र का।"

(५१)

सुने जभी वाक्य महा मुनीन्द्र के
मृगेन्द्र को ध्यान हुआ स्व-जाति का,
शरीर काँपा, जल नेत्र से चला
तथैव रोमांच हुआ तुरन्त ही।

---

[1]धुरा।

(५२)

पुनः पुनः ध्यान दिला-दिला उसे,
समस्त वृत्तान्त सुना-सुना उसे,
मुनीन्द्र ने केवल-ज्ञान-वृक्ष के
उगा दिये अंकुर चित्त-क्षेत्र में ।

(५३)

कहा, "न होगा, अब है, न हो गया,
सु-धर्म कोई इस विश्व-गर्भ में
समान हो केवल-ज्ञान के, सखे !
त्रिलोक-संभूति-प्रदान जो करे ।

(५४)

प्रभूत भू-भूतिद[1] जैन-धर्म है,
स्व-धर्म-संस्थापन पुण्य कर्म है,
न तुल्य कोई कृत धर्म-कर्म के,
न कृत्य कोई अतिरिक्त त्याग के ।"

(५५)

मुनीन्द्र के वाक्य मृगेन्द्र के लिए
अघौघनाशी हितकारि यों हुये,
नखी[2] अहिंसा-व्रत पालता हुआ
द्युलोक[3] को अंतिम काल में गया ।

---

[1]संपत्ति देनेवाला । [2]सिंह । [3]स्वर्ग ।

(५६)

पुनश्च हेम-प्रभ ग्राम में कहीं
कुमार हेमोज्ज्वल नाम से हुये,
सुधी, यथा-काल अधीत-शास्त्र हो
बड़े प्रतापी, बलवान भी; हुये।

(५७)

कुमार थे संस्थित एकदा किसी
महीध्र[1] के मंजुल तुंग-शृंग पै
उसी घड़ी एक मुनीन्द्र से सुधी
लगे मुदा धर्म-रहस्य पूछने।

(५८)

परिक्रमा दे मुनि को त्रिबार वे
विनीत हो दंड-प्रणाम आदि में
लगे नत-ग्रीव[2] कुमार पूछने
"कहो, मुने ! गुप्त रहस्य धर्म का।"

(५९)

मुनीन्द्र बोले, "शुभ धर्म है वही
प्रसिद्ध निःश्रेयस[3]-प्राप्ति-हेतु जो
त्रिलोक-स्वामित्व-प्रदान-कार्य में
सदा रहे दक्ष अनन्य मित्र-सा।

---

[1]पहाड़। [2]नत ग्रीवा किये हुये। [3]मुक्ति।

(६०)

"दशांग श्रीमूल-गुणाढ्य धर्म को
निबाहना, इन्द्रिय-चौर जीतना;
तपस्विता निश्चय ही मनुष्य को
प्रकाम देती फल पूर्व-पुण्य का।

(६१)

"महान योद्धा मद-मोह-द्रोह हैं,
प्रहार तू संप्रति काम-क्रोध भी,
अभी तुझे यौवन-शक्ति-प्राप्त है
पुनः करेगा बन वृद्ध गृद्ध[१] क्या ?

(६२)

"प्रशान्त हो जो नव आयु में सुधी
यथार्थ ही शान्त उसे पुकारते,
विनष्ट होती जब सप्त धातुएं
प्रशान्ति आती किस जीव में नहीं ?"

(६३)

मुनीन्द्र के वाक्य सुने; कुमार भी
विचारने भूरि लगा स्व-चित्त में;
विमुक्ति-संपादन-दत्त-चित्त हो
लगा सुधी सम्यक धर्म-कर्म में।

---

[१]बुड्ढे गीध की भाँति।

(६४)

[1]विजित्य बाह्यान्तर दो प्रकार के
परिग्रहों को, अति शान्त भाव से
स्वकीय-मोक्षार्थ अरण्य-वास ले
स-धर्म दीक्षा द्रुत ली कुमार ने ।

(६५)

कुध्यान त्यागे युग, आर्द्र-रौद्र भी,
तुरन्त लेश्या[2] सब छोड़ दीं मृषा
विहाय चारों विकथा कुमार ने
समस्त त्यागे भव-जाल अंत में;

(६६)

अरण्य में वास किया, प्रशान्त हो,
तथा तपस्या दश-दो[3] प्रकार की
प्रकाम की मूलगुणानुरक्त हो,
जिये हुये देव सहस्र वर्ष के ।

(६७)

पुनः सुधी कोशल-देश में हुये
प्रसिद्ध राजा हरिषेण नाम के,
महा यशस्वी, अति ओजवान हो
किया सु-संचालन धर्म-राज्य का ।

---

[1]जीतकर । [2]कषाययुक्त प्रवृत्ति । [3]बारह ।

(६८)

समेत सामायिक-प्रोषधादि के
निकेत धर्माचरणादि के बने;
नृपाल वे प्रासुक-दान-धर्म में
रमे रहे तीर्थ-प्रयाण में मुदा।

(६९)

मुनीन्द्र-योगीन्द्र तथैव केवली
नृपाल वे साधु-समाज संग ले,
व्यतीत यों ही करते सदैव थे
स्वधर्म-संलग्न समस्त काल भी।

(७०)

महान थे पंडित राजनीति के,
विशाल थे दान-प्रसक्त[१]-चित्त भी,
कदापि पाया रिपु ने न पीठ ही,
न अन्य योषा नृप-वक्ष छू सकी।

(७१)

नृपाल वे आर्त मनुष्य की सदा
विनाशते थे बहु ग्लानि यत्न से,
न शार्ङ्ग-धन्वा-धृत थे तथापि वे
मुकुन्द थे भू-पर युग्मबाहु के।

---

[१]संलग्न।

(७२)

स-काम-धर्मार्थ-विमुक्ति हेतु ही
सदा बिताते निज काल धर्म में;
परन्तु संप्राप्त हुई जरा जभी
नृपाल कान्तार[1]-निविष्ट हो गये।

(७३)

नरेन्द्र हो दीक्षित जैन-धर्म में,
विनाशते थे तप-वज्र-घात से
स्व-कर्म-शैलेन्द्र; स्व-धर्म-हेति से
सँहारते इन्द्रिय-शत्रु-सैन्य थे।

(७४)

मृगेन्द्र-से पर्वत-कंदरादि में
विहार यों ही करते अजस्र थे;
स-सर्प भू में वह भीति-हीन हो
शयान होते, रत ज्ञान-ध्यान में।

(७५)

तुषार-वर्षा-मय शीत-काल में
स्व-ध्यान-ऊष्मा[2]-मय-योग-मग्न थे;
दवाग्नि-वर्षा-मय-ग्रीष्म-काल में
स्व-ज्ञान-शैत्याश्रय-भोग-लग्न थे।

---

[1]वन। [2]गर्मी।

(७६)

व्यतीत आयुष्य इसी प्रकार से
हुआ; सहे उत्कट काय-क्लेश भी,
बना निराहार शरीर अंत में
समाधि ले प्राण-विहीन हो गये ।

(७७)

पुनः लिया जन्म मरीचि-जीव ने
सुमित्र-नामा नृप के निवास में;
उसे सुशीला जननी मिली तथा
पुरी मिली सुन्दर पुंडरीकिणी ।

(७८)

महान प्यारा प्रिय-मित्र नाम था,
प्रसिद्ध थी कीर्ति, विशुद्ध कान्ति भी,
शरीर-भूषा सुर-देह-तुल्य थी
समुच्च मेधा,[1] दिग-नाग-शक्ति थी ।

(७९)

कुमार आस्था[2] जिन-धर्म में बढ़ी
पढ़ी सभी भूपति-नीति प्रीति से,
मिला उसे था अधिकार राज्य का
युवा-अवस्था जब प्राप्त हो चुकी ।

---

[1]बुद्धि । [2]विश्वास ।

(८०)

अपार सेना अति-शक्ति-शालिनी,
चतुर्दिशा जीत नृपाल-मंडली,
स-हर्ष लौटी निज देश को जभी
न चक्रवर्ती उस-सा रहा कहीं ।

(८१)

दशांग-भोगी प्रिय-मित्र को रही
न कामना किंचित अर्थ-काम की,
स्व-धर्म-द्वारा शुभ मुक्ति-साधना
सदैव थी श्रेय, सुकर्म ज्ञेय थे ।

(८२)

समुच्च देवालय भी बना सुधी
स-रत्न की स्थापित हेम-मूर्तियाँ;
स्व-गेह चैत्यालय में स-भक्ति सो
सदैव पूजा करता नृपाल था।

(८३)

सदा रहा आशुक-दान-लीन सो,
नृपाल यात्रा करता स-भक्ति था;
कुटुम्ब-संयुक्त चरित्र ईश का
स्व-धर्म-गाथा सुनता स-प्रेम था ।

(८४)

कियेहुये कर्म सभी नृपाल सो
सदैव सामायिक से विनाशता,
स्व-धर्म का पालन दत्त-चित्त हो
मनीषि[१] ने सम्यक ज्ञान से किया ।

(८५)

पुनः किसी काल नृपाल सात्वकी
कुटुम्ब-संयुक्त सुपर्व पूजने
जिनेन्द्र-क्षेमंकर-वंदनार्थ सो
गया; सुना यों उपदेश धर्म का:—

(८६)

"विशाल साम्राज्य, महान सौख्य भी,
मनुष्य-द्वारा जित[२] संपदा सभी
अवश्य होते क्षय-प्राप्त अंत में
विनाश-प्रत्यंत समस्त विश्व है ।

(८७)

"न रोग से छूट, न मुक्ति क्लेश से,
न दुःख से मोक्ष शरीरवान को;
न प्राणियों को सुख कर्म में कभी;
मनुष्य का एक शरण्य[३] धर्म है।

---

[१]विद्वान । पंडित । [२]जीती हुई । [३]शरण-स्थान ।

(८८)

"अवाप्त रत्न-त्रय का वहित्र हो,
महा जगत्तप्त-पयोधि पार हो,
यहाँ अकेले करना प्रयत्न है,
न संग कोई सुत है, न नारि है।

(८९)

"शरीर को भी अपना न मान के,
सभी मलों की खनि देह जानके,
स्व-धर्म का पालन ही स्व-कर्म है
विकर्म है अर्थ, अकर्म काम है।

(९०)

"मनुष्य की देह-तरी तरंत[1] है,
तथा सभी इन्द्रिय छिद्र-तुल्य हैं
जभी हुआ आस्रव[2] कर्म-नीर का
बचा नहीं जीवक कर्ण-धार भी।

(९१)

"अतः करो धर्म-प्रपत्ति मुक्तिदा,
सदा तपस्या-रत आयु दो बिता,
न केवली के उपदेश के बिना
मनुष्य कोई भव-मोक्ष पा सका।

---

[1]तैरती हुई। [2]आगम।

(९२)

"सुखीजनों की सुख-वृद्धि के लिये
दुखी नरों के दुख के विनाश को
जिनेन्द्र-संपादित धर्म-साधना
खुली हुयी है नव-रत्न-पण्य-[१]सी।

(९३)

"वही सुधी है, वह पूज्य विज्ञ है,
वही सुखी है, जग में अधिज्ञ[२] है,
स्वकीय आत्मोन्नति-हेतु सर्वदा
जिनेन्द्र-पूजा करता स-भक्ति जो।"

(९४)

मुनीन्द्र-द्वारा उपदिष्ट धर्म की
स-प्रेम दीक्षा प्रियमित्र ने मुदा
हृदिस्थिता की; अति शान्त भाव से—
विराग से—पूर्ण प्रसन्न हो गया।

(९५)

प्रमाद से हीन हुआ व्रतस्थ सो,
तुरन्त की स्वीकृत भूमिपाल ने
गुणावली उत्तर-मूल की द्विधा,
निरोध[३] कर्मास्रव का किया तथा।

---

[१]बाज़ार। [२]ज्ञानी। [३]रोक। रोकना।

(९६)

सदा सुखी पर्वत-कंदरादि में
विहार योगी करता प्रशान्त था;
जिनेन्द्र का धर्म-प्रभाव विश्व में
प्रचारता था अति भक्ति-भाव से।

(९७)

प्रपूर्ण था ही परमार्थ-ज्ञान से,
समस्त आहार विहाय अंत में
स-हर्ष संन्यास लिया महीप ने
विशुद्ध योगी सब भाँति हो गये।

(९८)

विहाय बाईस परीषहादि भी
किया समाराधन चार भाँति का,
शरीर छोड़ा उस काल साधु ने
प्रकाम भोक्ता बन स्वर्ग्य सौख्य का।

(९९)

पुनश्च कालान्तर में मरीचि की
विशुद्ध आत्मा च्युत भूमि में हुई,
पुरा[१] प्रसिद्धा हरिषेण नाम स
हुई समाख्यात कुमार नंद में।

---

[१]पहले।

(१००)

कुमार धर्मी बन बाल्य-काल से
जिनेन्द्र-संपूजन-दत्त-चित्त था,
समस्त संस्कार स्व-धर्म के उसे
बना रहे थे अति धन्य विश्व में।

(१०१)

"मुदा गये नंदकुमार एकदा
सकाश में प्रोष्ठिल साधु के, जहाँ
सुनी दशांगा जिन-धर्म की कथा
पवित्र-आत्मा वह शीघ्र हो गये।

(१०२)

"उपद्रवी के प्रति भी न क्रोध हो
कही गई सो अति उत्तमा क्षमा,
कठोरता को सब भाँति त्यागना
द्वितीय है मार्दव[1] अंग धर्म का।

(१०३)

"सदा मनो-वाक्य-शरीर-जात[2] जो
महान कौटिल्य, उसे बिनाशना,
तृतीय है आर्जव अंग धर्म का
प्रसिद्ध जो साधु-समाज में सदा।

---

[1]मृदुता। [2]उत्पन्न।

(१०४)

"चतुर्थ शोभामय सत्य अंग है,
असत्यता ही शुभ-धर्म-नाशिनी,
प्रसिद्ध है पंचम अंग शौच जो
पवित्रता-मंडित धर्म-तत्त्व है,

(१०५)

"सदा त्रस[१]-स्थावर-रूप विश्व में
समस्त-प्राणी-गण-रक्षणार्थ जो
किया गया पालन इन्द्रियार्थ हो,
प्रसिद्ध है संयम अंग धर्म का।

(१०६)

"पुनःतपस्या दश-दो प्रकार की
मनुष्य-द्वारा परिपालनीय है,
पुनश्च जो त्याग प्रशस्त ख्यात है
कहा गया सो शुभ अंग धर्म का।

(१०७)

"परिग्रहों को बहु भाँति त्यागना
कहा गया धर्म-अकिंचनाख्य है,
महान जो सौख्यद साधु-संत को
तथा बनाता भय-हीन भी उन्हें।

[१]गर्मी से डरकर सर्दी में और सर्दी से डरकर गर्मी में भागनेवाले जीव।

(१०८)

"पुनः सुनो, अंतिम अंग धर्म का,
कहा गया उत्तम ब्रह्मचर्य्य है,
गृहस्थ[१] को भोग्य स्व-नारि ही सदा,
समस्त-नारी-गण साधु त्यागता।"

(१०९)

सुना जभी भूपति ने मुनीद्र से
महान आंदोलित-चित्त हो उठे,
विचारने वे सहसा लगे, अहो!
असारता-पूर्ण समस्त विश्व है।

(११०)

असार होता यह विश्व जो न, तो
इसे न तीर्थंकर देव त्यागते;
तृषा-बुभुक्षा-रुज[२]-काम-क्रोध की
दवाग्नि प्राणी-वन को न दाहती।

(१११)

मनुष्य का जो धन—धर्म—है, उसे
स्वतंत्र हो इन्द्रिय-चौर लूटते,
अभाव में या निज भाव में इसे
अजस्र ही हैं सब भोग भोगते।

---

[१]ब्रह्मचर्य्य का अर्थ है कि गृहस्थावस्था में अपनी स्त्री के अतिरिक्त सभी स्त्रियों का त्याग तथा संन्यासावस्था में सभी स्त्रियों का त्याग। [२]रोग।

(११२)

उठे इसी भाँति विचार चित्त में
महीप के; वे धृत-बुद्धि हो गये,
तुरन्त दीक्षा-गुरु साधु को बना
बने महात्मा जिन-धर्म-संयमी ।

(११३)

स्व-चित्त में सत्वर सावधान हो
गुरूपदेशान्वित भूप ने तदा
समुद्र एकादश-अंग[1] शास्त्र का
मुदा किया पार; कृतार्थ हो गये ।

(११४)

महीप नाना व्रत में निमग्न हो,
शरीर को क्लेश अनेक भाँति दे;
मुनीन्द्र-द्वारा उपदिष्ट धर्म को
अनेकशः वे परिपालने लगे ।

(११५)

स्व-धर्म में जो व्रत हैं कहे गये,
तथैव सारे तप-जाप ख्यात जो,
उन्हें सुधी सम्यक पालते हुए
रहे बिताते निज आयु सौख्य से ।

---

[1]शास्त्र के ग्यारह-अंग ।

(११६)

विहाय तृष्णा, बहु रौद्र ध्यान भी,
अपाय-संस्थान-विपाक आदि से
निमग्न हो सत्वर शुक्ल ध्यान में
मुनींद्र का आस्पद[1] साधु ने लिया।

(११७)

सदैव मैत्री सब जीव-लोक से,
विलीन हो दर्शन-शुद्धि में मुदा,
विचारता षष्ठ-दशाख्य[2] भावना
विनाशता विंशति-पंच दोष था।

(११८)

प्रशान्त हो त्रैविध मूढ़ता[3] तजी,
विहाय सो अष्ट-मदादि सर्वथा,
शरीर से विंशति-पंच मैल भी
निकाल फेंका, मन स्वच्छ हो गया।

(११९)

स-भक्ति-संवेग-विराग आदि से
विहीन; तीर्थंकर की उपाधि की
प्रसिद्ध जो है प्रथमा दशा, उसे
स-हर्ष उत्तीर्ण किया मुनीन्द्र ने।

---

[1]पद, पदवी। [2]सोलह। [3]देव मूढ़ता लोक मूढ़ता और गुरु मूढ़ता।

(१२०)

स-हर्ष अष्टादश शील पालते,
अजस्र हो पंच-व्रतस्थ सात्वकी;
सु-ग्रंथ जो ज्ञापक[1] अंग पूर्व के
सदा पढ़ाता वह शिष्य-वृन्द को ।

(१२१)

समत्व, व्युत्सर्ग, त्रिकाल-वंदना—
अतिक्रम ख्यात अवश्य पाप जो,
स्तुति प्रतिख्यात छहों सुकर्म भी
निवाहता था वह साधु यत्न से ।

(१२२)

अभीति देता सब जीव-लोक को,
सु-ज्ञान देता सब साधु-वृन्द को,
सदैव आध्यात्मिक-सौख्य-दान से
मुनीन्द्र सेवा करता स-हर्ष था ।

(१२३)

चतुर्विधाराधन से मुनीन्द्र ने
तजा समाहार[2] व्रताधिकार से;
स्वकीय आयुष्य समाप्त जान के
चला गया नंदकुमार स्वर्ग को ।

---

[1]बतानेवाला । [2]भोजन ।

(१२४)

हुआ सुधी अच्यत-इन्द्र स्वर्ग में
युवा-शरीरी अति ओज-युक्त सो
स-रत्न था वक्ष, स-वस्त्र देह थी,
स-तेज था भाल, स-कान्ति रूप था ।

(१२५)

स-रत्न उत्पाद-शिला[१] मिली उसे,
स-हर्ष बैठा जिस पै महासुधी,
चतुर्दिशा दी निज दृष्टि देव ने,
स-मोद साश्चर्य्य विलोकने लगा ।

(१२६)

विमान देखे द्युतिमान धाम थे,
स-हर्ष वृन्दारक-वृन्द भी लखे;
मुनीन्द्र साश्चर्य्य विचारने लगा :—
"अहो, महा पुण्य-प्रताप धर्म का ।

(१२७)

"अहो, अहो, मैं अति पुण्यवान हूँ,
महान सौख्य-प्रद दिव्यभूमि है;
मनोज्ञ सेना यह सप्त भाँति की !
मनोज-सेना[२] यह कोटि भाँति की !

---

[१]जहाँ देव उत्पन्न होते हैं । [२]अप्सरा-समूह ।

(१२८)

"चतुर्दिशा में अरुण-प्रिया शची,
असंख्य विद्याधर वर्तमान हैं;
सभा सुधर्मा अति ही विशाल है,
स-विश्वकर्मा सुर हैं विराजते।

(१२९)

"प्रतीत होते सब शुद्ध-चित्त हैं,
विनीत हैं, सुन्दर हैं, प्रसन्न हैं,
समस्त-संपत्ति-निकेत में मुझे
बुला बिठाया किस देव-दूत ने ?"

(१३०)

मुनीन्द्र संदेहमयी प्रवृत्ति से
विचारता ही क्षण एक यों रहा,
कि देव-मंत्री कर-बद्ध आ वहाँ
लगा बताने अति दिव्य वृत्त यों :—

(१३१)

"अहो ! प्रभो ! संप्रति धन्य हो गये,
हुये फलीभूत प्रयत्न आपके,
स्व-जन्म पाया इस स्वर्ग में कि जो
दिवान[1]-चूड़ामणि अच्युताख्य है।

---

[1]स्वर्ग।

(१३२)

"यहाँ मनोवांछित वस्तु प्राप्त है,
अवाप्त है इन्द्रिय-सौख्य सर्वदा;
विशुद्ध हैं कामदुघा[१] गरीयसी
समक्ष चिन्तामणि, कल्पवृक्ष हैं।

(१३३)

"प्रमोद-दात्री ऋतुएँ समस्त हैं,
प्रशान्ति देता शुभ काल सर्वदा,
न भेद होता दिन-रात में यहाँ,
विराजता रत्न-प्रकाश सर्वदा।

(१३४)

"न दीन, दुःखी, न अधीन, निर्गुणी,
कु-भाग्य, रोगी, जन कान्ति-हीन भी,
जिनालयों में प्रति-याम हर्ष से
प्रसन्न पूजा करते सुपर्व[२] हैं।

(१३५)

"विलोकिये, देव-विमान सर्वशः,
असंख्य सामानिक देव हैं यहाँ;
अनन्त सेना यह आत्म-रक्षिणी,
इतस्ततः प्रस्तुत देव-पाल हैं।

---

[१]कामधेनु। [२]देवता।

(१३६)

"स-विक्रिया-ज्ञान अनेक देवियाँ
सुपर्व सारे भवदीय दास हैं,
समृद्धि का भोग समक्ष आपके
स्व-धर्म-कर्माश्रित स्वर्ग-सौख्य हैं।"

(१३७)

सुने सुरामात्य[1]-प्रदिष्ट वाक्य यों,
हुआ उन्हें ध्यान स्व-पूर्व-जन्म का;
कि नंद-नामा मुनि थे, स्व-धर्म के
प्रभाव से हैं अब स्वर्ग-लोक में।

(१३८)

समस्त आख्यानक जन्म-जन्म के,
स्व-जीव की उन्नति उत्तरोत्तरा,
हुईं उन्हें ज्ञात, प्रसन्न हो उठे
जिनेन्द्र-धर्म-ध्वज रोम-रोम से।

(१३९)

तभी विलोकी निज दैहिकी[2] प्रभा,
समुच्च थी उन्नति तीन हाथ की,
न स्वेद था, देह मलादि-हीन थी
निमेष से रिक्त[3] प्रसन्न नेत्र थे।

---

[1]इन्द्र का मंत्री। [2]देह-संबंधिनी। [3]शून्य।

(१४०)

पदार्थ जो नारक-षष्ठ-भूमि के
हुये उन्हें ज्ञात स्वभावतः सभी,
स-विक्रिया-ऋद्धि-प्रभाव सात्वकी
समुद्र-द्वाविंशति[1] आयु पा सके ।

(१४१)

सदैव जो निःसृत ब्रह्म-रन्ध्र से
सुभोज्य पीयूष उन्हें अवाप्त था;
तथैव एकादश-मास-चारिणी
सुगंध-निःश्वास उन्हें मिली तभी ।

(१४२)

निदान इच्छा यह एकदा उठी
कि प्राप्त हो केवल-ज्ञान भी उन्हें,
स-नाथ हों आर्त मनुष्य विश्व के;
अतः चले वे फिर जीव-लोक को ।

[द्रुतविलंबित]

(१४३)

इस प्रकार सभी भव पूर्व के
स्मृत हुये तप के सु-प्रभाव से,
गगन में सुर यों कहने लगे,
समय आगत जान विमोक्ष[2] का ।

---

[1]बाईस सागर। [2]स्वर्ग से छुटकारा।

(१४४)

जगत में अवतीर्ण हुए तथा
कर तपादिक से क्षय कर्म का
प्रभु बने अब केवल-ज्ञान के
उचित पात्र[1], न संशय लेश है।

[वंशस्थ]

(१४५)

सुरेन्द्र के संसद[2] में अनेकशः
सुपर्व चर्चा करने लगे तभी
हुई तपस्या परिपूर्ण लोक में,
न आर्य्य क्यों सिद्धशिलाधिरूढ़ हों।

(१४६)

व्रतोपवासादिक से, तपादि से
मिला दिया पार्थिव-अंश धूलि में,
यतीन्द्र निर्धूम हिरण्यरेत[3]-से
प्रकाशते हैं अब जीव-लोक में।

(१४७)

शरीर में तप्त-सुवर्ण-कान्ति है,
पवित्र आत्मा अविमिश्र[4] ज्योति है,
त्रयोदशाब्दा उनकी तपस्विता
प्रकाशती केवल-ज्ञान-योग्यता।

---

[1]अधिकारी। [2]सभा। [3]स्वर्ण। [4]खालिस।

(१४८)

समस्त कर्म-क्षय के प्रभाव से
यतीन्द्र संसिद्धि-अवाप्ति-योग्य हैं,
अतः उन्हें क्यों पदवी मिले न जो
पुरा त्रयोविंशति[1] देव को मिली ।

(१४९)

सुरेन्द्र-प्रस्ताव सुना रतीश ने
कहा कि "कामेश्वर नामधेय[2] मैं;
बिना परीक्षा जिन-देव की लिये
न युक्त सिद्धासन-दान है उन्हें ।"

(१५०)

कहा सुरों ने "प्रभु कामदेव हैं,
महान पुष्पायुध विश्वख्यात हैं;
अतः परीक्षा कर लें यतीन्द्र की
कदापि आपत्ति हमें न, नाथ, है ।

(१५१)

"यतीन्द्र हैं अस्थिक-ग्राम-कूल में
कहीं वहीं एक विशाल चैत्य भी,
सु-कर्म से प्रेरित आज रात्रि में
निवास लेंगे उस देव-धाम में ।

---

[1]तेईस तीर्थंकर । [2]नाम ।

(१५२)

"परीषहों को तृण-तुल्य मान के
कदापि चिंता जिसने न की, प्रभो !
सभी परीक्षा कर पार जो चुका
उसे नहीं है अब त्रास त्रास से ।

(१५३)

"विलोकिये आप, इसी सुरौक[1] में
सुपर्व कोई न किरीटवान, जो
धरित्रि में दुर्भर भारवान हो
रहा नहीं, दुःख सहा नहीं तथा ।"

(१५४)

चला जभी देव सुरेन्द्र-लोक से
यतीन्द्र भी अस्थिक-ग्राम में धँसे
जहाँ खड़ा मंदिर एक शून्य था
महेश का, जो कि भयंद[2] ख्यात था ।

(१५५)

निशा-निवासार्थ निदेश आर्य्य ने
विनम्र माँगा पुर-वासि-वृन्द से,
परन्तु वे सादर बोलने लगे, :—
"यहाँ न स्वामिन् ! रहना विधेय है ।

---

[1]वैकुंठ । [2]भयकारी ।

(१५६)

"न देव साधारण शूल-पाणि हैं,
थमा यहाँ सो कुशली रहा नहीं,
पधारते वासर में यहाँ सभी,
न रात्रि आते रुकते कदापि हैं।

(१५७)

"रुके यती वातुल[१] हो गये, मरे,
पुनः न लौटे, यह चैत्य है वही;
पधारिये, अन्य निवास ढूँढ़िये,
यहाँ बिताना रजनी निषिद्ध है।"

(१५८)

परन्तु बोले दृढ़-चित्त आर्य्य यों
"न आप चिंता कुछ भी करें, सखे !
मुझे यहाँ केवल एक रात्रि को
निवास-आज्ञा भवदीय चाहिये।

(१५९)

स्वकर्मसत्ता-वश भाड़ में पड़ूं,
बना रहेगा वह साथ-साथ ही,
अतः परीक्षा-भय से विभीत हो
न वीर प्राणी तजता स्व-धर्म है।"

---

[१]पागल।

(१६०)

प्रदोष आया, सब पौर जा चुके
परन्तु ज्ञानेच्छु बने रहे वहीं
निशीथ में आकर पुष्प-बाण ने
प्रगाढ़ ध्यानस्थ यतीन्द्र को लखा।

(१६१)

कहा गणों से रतिनाथ ने तभी
कि शीघ्र ध्यान-च्युत आर्य्य को करें,
स-वेग शृंगी-रिटि-नन्दि-तुन्दि[1] ने
प्रयत्न नाना विधि के किये सभी।

(१६२)

उठा-उठा के पटका धरित्रि में,
यतीन्द्र को कंदुक ही बना दिया;
परन्तु वे मीलित-नेत्र ही रहे
न ध्यान टूटा, न हिले-डुले कहीं।

(१६३)

दयार्द्र हो, काम कृपालु सर्वथा
विलोक बोला, "अब छोड़ दो इन्हें,
यतीन्द्र हैं, अंतिम जाँच हो चुकी,
हुये समुत्तीर्ण, न त्रास-योग्य हैं।

---

[1]शंकर जी के गणों के नाम।

(१६४)

सरोज-अंतर्गत मंजु वारि ले
स-मंत्र ज्यों ही छिड़का रतीश ने,
यतीन्द्र ने लोचन खोल के लखा
समक्ष कामेश्वर पुष्प-चाप को ।

(१६५)

ललाट में दीप्ति प्रशंसनीय थी;
मुखाब्ज में सुस्मिति, चाप पाणि में,
मनोज्ञ मौर्वी जिसमें मिलिन्द की
कटाक्ष-बाणावलि-युक्त सोहती ।

(१६६)

लसा शिरोभूषण चंद्रकान्त का,
वसंत-शोभा-मय अंग-राग था;
विलोचनों में विजयाभिरामता
प्रतीत थी श्याम-सरोरुहाक्ष[१] के ।

(१६७)

रतीश बोला, "अब मैं प्रसन्न हूँ,
अभेद्य विश्वास हुआ मुझे कि तू
विनष्ट-कर्मास्रव सर्वथा तथा
अछेद्य संगी शुभ शुक्ल ध्यान का ।

---

[१]शंकर ।

(१६८)

"अतः करेगा अब तू निरूपणा
कि द्वादशांगा गति गूढ़ ज्ञान की;
धरित्रि में सर्व-विराग धर्म की
निदेशना[1] ही तव मुख्य कार्य्य है।

(१६९)

"चतुर्विधा सेवित संघ-शक्ति से
चतुर्दशा-देव-निकाय[2]-सेव्य है,
अवश्य ही केवल-ज्ञान-युक्त हो
मुदा करेगा भव-सिंधु पार तू।

(१७०)

"त्रिलोक में निर्मल-कीर्ति-युक्त तू
प्रचार देगा जिन-धर्म-देशना
वृथा न होंगे मम वाक्य हे व्रती,
अवश्य होगा व्रत पूर्ण अन्त में।"

(१७१)

चला गया काम समाज संग ले
परन्तु डोले न यतीन्द्र ठौर से,
वरंच सिद्धासन बैठ शान्ति से
पुनः हुये लीन प्रगाढ़ ध्यान में।

---

[1]आज्ञा। [2]शरीर।

[द्रुतविलंबित]

(१७२)

मनुज जो दृढ़ निश्चयवान है,
वह नहीं हटता निज ध्येय से,
जिस प्रकार पतंग[1] प्रदीप के
निकट ही तजता निज प्राण है।

[वंशस्थ]

(१७३)

कठोर चर्य्या उपवास आदि में
व्यतीत यों बारह वर्ष हो गये;
पुनः चले वे द्रुत वात-चक्र[2] से
सुधी घुमाते निज धर्म की धुरी।

(१७४)

हिमाद्रि-माला कर विद्ध जान्हवी
प्रवाहिता भू-तल में हुई यथा;
तथा परीक्षा-परिखा[3]-विलंघिनी
यतीन्द्र-यात्रा महि-भासुरा[4] चली।

(१७५)

सहस्र-सूर्य्योदय की प्रभा भरी
ललाट में थी उनके प्रकाशती,
विलोकते ही नर मुह्यमान की
विमोह-यामा हटती न क्यों भला ?

---

[1]कीट। [2]बगूला। [3]खाँई। [4]प्रकाशित करनेवाली।

(१७६)

यतीन्द्र चंपा-पुर ओर को चले
अदीर्घ स्रोती[1] पथ में पड़ी उन्हें,
अनेक लघ्वी पद-दंडिका[2] जहाँ
मिली हुईं थीं पुर के समीप ही।

(१७७)

अदूर आगे कुछ उच्च भूमि थी,
लगे हुये थे क्षुप अर्क के जहाँ
जटाल[3] शाखी अतिकाय, मध्य में,
स्वकीय छाया करता प्रदान था।

(१७८)

प्रकीर्ण थी विस्तृत बालुका वहीं,
लवे जहाँ पै दिन-रात लोटते,
कभी-कभी तीतर के समूह भी
बना रहे विष्कृत[4] रेणु-पुंज थे।

(१७९)

जटाल शाखी पर पक्षि-वृन्द का
सुदूर से ही बहु-श्रव्य श्राव[5] था;
उसी फली[6] के कुछ दूर पूर्व में
प्रसिद्ध था मंदिर पूर्णभद्र का।

---

[1]नदी। [2]पगडंडी। [3]बरगद। [4]बिखरे हुए। [5]शब्द। [6]वृक्ष।

(१८०)

बनी हुई आयत बावली जहाँ,
विराम देती कर-पात्र को सदा,
यतीन्द्र भी आगत-काल-लब्धि से
गये उसी आश्रम-मध्य एकदा ।

(१८१)

सुधी निराहार व्रतोपवास में
लगे बिताने दिन ध्यान-मग्न हो,
व्यतीत वर्षा-ऋतु हो गयी वहीं
हुई पुनः सर्व-दिशा सुनिर्मला ।

(१८२)

यतीन्द्र ने पारण-काल जान के
प्रवेश चम्पापुर में किया तभी,
न ग्राम में वे पहुंचे सु-दूर थे
कि एक दासी पथ में मिली उन्हें ।

(१८३)

लिये हुये कोदव-भक्त[१] हस्त में
शराव में मुद्ग[२]-तुषा रँधी हुई,
स-भक्ति आयी प्रभु के समीप सो
स्व-स्वामिनी-दंडित चंदना[३] सती ।

---

[१]कदन्न, कोदों का भात । [२]मूँग । [३]यह चंदना-चरित्र प्राची ग्रंथों से कुछ भिन्न है कवयः निरंकुशाः ।

(१८४)

कभी रही सुन्दर राज-कन्यका
अरण्य-क्रीड़ा करती छली गयी;
जहाँ किसी कामुक[1] यक्ष ने उसे
कुवासनासे निज साथ ले लिया।

(१८५)

परन्तु आधे पथ में तजा उसे
स्वकीय-पत्नी-भय-भीत जार ने
अरण्य में पाकर एक भील ने
धनार्थ बेंचा पुर में सुभीरु[2] को।

(१८६)

सतीत्वपूर्णा वह क्रीत-सेविका
प्रविष्ट अन्तःपुर में धनाढ्य के
"बनी स-पत्नी[3] यदि सुन्दरी कहीं
नहीं कहीं की गृह-स्वामिनी रही।"

(१८७)

वितर्क-भीता गृह-स्वामिनी हुई;
बना दिया रूप-विरूप यों उसे
कि केश सारे मुँडवा दिये, तथा
बँधा दिया दे पद-मध्य शृंखला।

---

[1]कामी। [2]स्त्री। [3]सौत।

(१८८)

कदन्न[1] दे दे उस राज-पुत्रि को
पिशाचिनी-सी उसको बना दिया,
परन्तु सो उच्च-कुलोद्भवा सती
परीषहों को सहती चली गयी।

(१८९)

अधौत[2]-वस्त्रा, अमिता अशंसिता,
अशौच-देहा, अभगा, अमानिता
अदर्शनीया, अनलंकृता, अ-भा[3],
अभागिनी थी अबला अमानुषी।

(१९०)

परन्तु तो भी निज-मातृ-दीक्षिता,
अजस्र ही पंच-नमस्क्रिया-युता,
जिनेन्द्र-पादावनता सदैव सो
निहारती थी पथ देव-देव का।

(१९१)

प्रविष्ट चम्पापुर में हुये यती
तुरन्त फैला शुभ वृत्त ग्राम में,
कि चंदना बंधन-हीन हो गई
अलंकृता, सुन्दरि, राजपुत्रिका।

---

[1]बुरा अन्न। [2]बिना धुला। [3]बिना शोभा की।

(१९२)

शराव था मृण्मय[1] हैम[2] हो गया
कदन्न पक्वान्न हुआ तुरन्त ही,
यतीन्द्र ने की उपवास-पारणा
बनी शुभा चंदन-तुल्य चंदना।

(१९३)

सुनी जभी अद्भुत बात, पौर आ
स-भक्ति पूजा करने लगे सभी,
निवेदना की कर-बद्ध, "धन्य हो,
प्रभो ! हमें भी उपदेश-दान हो।

(१९४)

स-तर्क देखी सब ओर आर्य्य ने
प्रवृत्ति सांसारिक पौर-वृन्द की;
विलोक वे मानव-चित्त-वृत्तियाँ
लगे सुनाने हित-वाक्य सर्वथा।

[द्रुतविलंबित]

(१९५)

अगद[3] जो रुज[4] के उपयुक्त हो
चतुर वैद्य वही करता सदा,
निपट ग्राम्यक,[5] सामय[6] के लिए
लशुन ही मृग-मेद[7]-समान है।

---

[1]मिट्टी का। [2]स्वर्ण का। [3]औषध। [4]रोग। [5]ग्रामीण। [6]रोगी। [7]कस्तूरी।

[वंशस्थ]

(१९६)

यतीन्द्र-संसिद्धि विलोक नेत्र से
हुये वहाँ जो समवेत[1] लोग थे,
स्वकीय गाथा कह देह-गेह की
उपाय सारे जन पूछने लगे।

(१९७)

किसान बोला, "अति ही दरिद्र हूँ
समृद्धि कैसे मुझको अवाप्त हो;"
अहीर बोला, "दश वर्ष से, प्रभो !
महान हूँ पीड़ित वात-रोग से।"

(१९८)

कहार बोला, "मम भ्रातृ-पुत्र को
सता रहा प्रेत अनेक वर्ष से;"
कुम्हार बोला, "प्रभु ! तीन साल से
सुदीर्घ फूली पड़ नेत्र में गयी।"

(१९९)

चमार ने लाकर एक कूबड़ी
कहा "भतीजी यह आपकी, प्रभो !
हुई परित्यक्त स्वकीय स्वामि से
प्रसाद दें, कूबड़ ठीक हो अभी।"

---

[1] इकट्ठा।

(२००)

कुलीन कोई कर-बद्ध हो खड़ा;
कहा, "चलें आप मदीय[1] गेह में,
हुई पतोहू गृह के अयोग्य है
पिशाच-बाधा जब से लगी उसे।"

(२०१)

कहा किसी ने, "जल फूँक दीजिए,"
कहा किसी ने, "मुझको विभूति[2] दो;"
यतीन्द्र बातें सुन पौर-वृन्द की
खड़े-खड़े ही हँसते रहे वहीं।

(२०२)

तुरन्त एका ललना अपुत्रिका
पड़ी पदों पै सुत याचती हुई,
विनीत बोली अपरा यतीन्द्र से
"उपाय कोई कृपया बताइए।"

(२०३)

विलोक आती अधिकाधिका, तथा
समूढ़ होती जनता समुत्सुका,
चले वहाँ से द्रुत त्याग ग्राम को
तुरन्त ही देव परोक्ष हो गये।

---

[1]मेरे। [2]राख।

[द्रुतविलंबित]

(२०४)

बन किसी सुर की प्रिय क्रोड[1] में
विरमते शिशु की मुसकान-सी
मृदु हँसी अमिताभ[2] यतीन्द्र की
वह न भूल सकी जनता कभी।

---

[1]गोद। [2]अत्यन्त शोभावाले।

सोलहवाँ सर्ग

[वंशस्थ]

(१)

परीषहों के विषमोपसर्ग को
प्रहारते वीर त्रयोदशाब्द यों,
रहे तपोध्यान-निमग्न, अंत में
गये जहाँ थी शुभ जृंभिका पुरी।

(२)

समीप ही उन्नत शाल-वृक्ष था;
विशाल देवालय भी विराजता,
प्रवाहिता दक्षिण-ओर, पास ही
मनोहरा थी ऋजुबालिका नदी।

(३)

यही नदी है, जिसके समीप में
कुमार ने जीवन प्राप्त था किया,
इसी नदी के उपकूल[1] में कभी
हुये स्वयं-दीक्षित थे बुधाग्रणी[2]।

---

[1]तीर। [2]पंडितों में अग्रगण्य।

(४)

इसी नदी के उपकंठ[1] में कभी
खुला उन्हें जीवन का रहस्य था;
इसी नदी के तट में नितान्त ही
हुआ उन्हें निश्चय काल-धर्म का।

(५)

वही नदी तुंग-तरंगिता बनी
प्रगाढ़-आवर्तिनि सिंधु-चारिणी
चलो चलें, भेद लखें समीप से
जहाँ शिला है शुभ शाल के तले।

(६)

शनैः शनैः हैं भगवान आ रहे,
कठोर-चर्य्या-तप-साधना किये,
महा विजेता मद-मान-मन्यु[2] के,
निधान आदर्श व्रतोपवास के।

(७)

कषाय के सर्व-प्रकार ह्रास से
उन्हें क्षमा-आर्जव-तोष प्राप्त हैं,
शरीर में आत्मिक-शक्ति-वृद्धि से
दया तथा मार्दव पूर्ण व्याप्त हैं।

---

[1]समीप। [2]क्रोध।

(८)

ललाट में एक अनूप ज्योति है
प्रसन्नता आनन में विराजती
मनोज्ञता शोभित अंग-अंग में
पवित्रता है पद-पद्म चूमती।

(९)

सभी हवाएँ जिनके प्रणाम के
लिए चलीं भू पर लोटती हुई,
सभी दिशाएँ जिनके शरीर को
किये समाच्छन्न प्रसन्न हो रहीं।

(१०)

प्रभात में भी कुछ आज और ही
प्रभा भरी है अति मोद-दायिनी
समीर का शीतल चित्त हो रहा
चतुर्दिशा यद्यपि ग्रीष्म-काल है।

(११)

कुरंग ऐसी भरते छलाँग हैं
कि सर्वथा मुक्त किरात-बाण से,
पवित्रकी[१] से विनिमुक्त सर्वशः
तड़ाग में मीन प्रसन्न-चित्त हैं।

---

[१]मछली पकड़ने का जाल।

(१२)

शकुन्त[1] बैठे भय-मुक्त वृक्ष पै
कलोलते हैं, मृदु बोल बोलते।
किरी[2]-शशा-वस्त[3] समस्त भूमि में
प्रसन्न, आनंदित, मोद-युक्त हैं।

(१३)

चढ़े शिला पै जिस काल वे सुधी
प्रवेग झंझानिल का न था कहीं
गिरा अनायास बिना प्रहार के
सु-दूर टूटा द्रुम एक ताल का।

(१४)

प्रशान्त सिद्धासन को लगा सुधी
हुये समासीन विशुद्ध भाव से,
अभीत बैठा पिक वाम अंघ्रि[4] पै
मराल भी दक्षिण जानु पै लसा।

(१५)

नदी-किनारे चरता स-हर्ष जो
समीप आया वह धेनु-वृन्द भी;
सरोज-तीरस्थ तड़ाग के उन्हें
विहाय वारेश विलोकने लगे।

---

[1]पक्षी। [2]सुअर। [3]भेड़। [4]जंघा।

(१६)

जिनेन्द्र के उन्नत बाहु-मूल पै
गिरे तभी दो स्रग[1] अंतरिक्ष से
परन्तु वे एक तटस्थ[2] भाव से
प्रगाढ़ बद्धासन ही बने रहे ।

(१७)

जिनेन्द्र यों तो असहाय-से लसे
निरस्त्र, निष्कंचुक[3], यान-हीन ही ।
परन्तु तो भी वह कर्म-शत्रु से
कराल आयोधन[4] में समर्थ थे ।

(१८)

अभेद्य सन्नाह सहस्र शील का,
निचोल भी कोटि गुणानुभाव का,
सवार संवेग-गजेन्द्र पै हुये
जिनेन्द्र थे प्रस्तुत संप्रहार[5] को ।

(१९)

विशाल चारित्र्य अनीक-वप्र[6] था,
महान रत्न-त्रय के कलंब[7] थे,
कराल कोदंड व्रतोपवास का
उन्हें बनाता अरि से अजेय था ।

---

[1]माला । [2]उदासीन । [3]बिन बख्तर । [4]युद्ध । [5]युद्ध । [6]टीला या मैदान । [7]बाण ।

(२०)

अनीकिनी[1] थी वहु गुप्ति आदि की,
स्वयं महा सेनप कर्म-संक्षयी,
समक्ष था कर्म अमित्र, सिद्धि का
मुहूर्त आया अभिसन्निपात[2] का ।

(२१)

दिनेश में एक विकंप आगया,
समीर में एक प्रकंप हो गया,
तड़ाग के पंकज वेपमान[3] थे
पयस्विनी का जल काँपने लगा।

(२२)

शरीर की रक्त-प्रवाहिनी शिरा
समस्त निध्मात[4] हुईं तुरन्त ही
जिनेन्द्र की लोचन पुत्तली खुलीं,
स-वेग घूमी, फिर बन्द हो गयीं।

(२३)

अचेष्ट हैं ओष्ठ, अचेत है त्वचा,
अहो, अहो ! क्या यह अंत-काल है ?
पिशंग[5]-रंगा बन सिंहिनी-समा
कि मृत्यु ने ली प्रभु पै उछाल है।

---

[1]सेना। [2]आक्रमण । [3]कंपमान । [4]बजीं। [5]पीली।

(२४)

कि योग-निद्रा मधु के प्रभात-सी
अभूत भा[1]-भूषित कोष-बद्ध हो,
शनैः शनैः श्वास-प्रवाह ले रही
भवाब्धि के स्तंभित वीचि-पुंज पै ।

(२५)

विलोकते हृद्-गति के बिना जिसे
न है प्रशंसा अनुराग भी कभी,
विनाश होगा उस दिव्य देह का
न त्यों कभी निश्चय पूर्ण रूप से ।

(२६)

कि योग-निद्रा निज सेविका, जिसे
पुकारते निश्चलताभिधान[2] से,
बिठा चुकी लोचन-कोण में, जहाँ
अजस्र देती पहरा प्रशान्ति है ।

(२७)

न सो रहे संप्रति ज्ञात-पुत्र हैं,
सु-मंद-विस्फूर्जित हैं शिरा सभी,
निमेष के अंतर में कनीनिका[3]
अदृष्ट, ज्योतिर्मय, स्थैर्य्य-हीन हैं ।

---

[1]शोभा । [2]नाम । [3]पुतली ।

(२८)

प्रलिप्त है अष्ट-गुणानुभाव से
जिनेन्द्र की मानस-भूमिका सभी,
कषाय-मिथ्यात्व-विहीन-चित्त वे
चढ़े हुये हैं अब श्रेणि[1] सप्तमा।

(२९)

निवृत्त कर्म-क्षय हो, तुरन्त ही
प्रवीर ले हेतिक शुक्ल-ध्यान का,
जिनेन्द्र निःश्रेयस-गेह-रोहिणी
चढ़े हुये हैं क्षपकाख्य श्रेणि पै।

(३०)

सँहारते षोडश-कर्म-शत्रु वे,
प्रहारते अष्ट-कषाय-यूथ को,
विदारते हैं अनिवृत्ति की प्रमा[2]
चढ़े हुये हैं दशमा दशा सुधी।

(३१)

प्रवृत्त निद्रा-प्रचला-विनाश में,
विलग्न ज्ञानावरणादि-ह्रास में,
किये तभी पार अपार शक्ति से
जिनेन्द्र ने बारह[3] खंड ध्यान के।

---

[1]सातवाँ गुणस्थान। [2]विस्तार। [3]बारह गुणस्थान।

(३२)

हुआ उसी काल, अहो! अनन्त में
निनाद ऐसा कि जिसे कवीन्द्र ही
निशान्त में हैं सुनते कभी, यदा
समीर हो स्तंभित, शान्त व्योम हो।

(३३)

सुकोमला दक्षिण-वायु-श्वास से
समीर-संगीत-समान मोहिनी
पड़ी सुनायी ध्वनि अंतरिक्ष में
समीप आती द्रुत ज्ञातपुत्र के।

(३४)

*कुबेर संचालित चार अश्व का
समीप ही स्यंदन एक आ गया।
इतस्ततः सैन्धव[1] स्वीय टाप से
अ-धूलि धूलिध्वज[2] थे बिखेरते।

(३५)

सुरेन्द्र-चापाकृति-सी प्रलंबिता
सधी हुई रश्मि-विनिर्मिता कषा[3]
शतांग[4]-संयोजित-बाजि-राजि[5] को
निदेश देती निज-दृष्टि-मात्र से।

---

[1]घोड़ा। [2]वायु। [3]कोड़ा। [4]रथ। [5]समूह।

*यह अंश केवल कवि-कल्पना है, जैन-ग्रंथों की ऐसी विचार-धारा नहीं है।

(३६)

सवार संगीत-तरंग पै, तथा
प्रकाश की वीचि-समूह पै चढ़ा
अनभ्र संजान प्रशान्त वज्र-सा
समक्ष आया तब आर्यपुत्र के।

(३७)

तुरंग चारों, तनु-देह प्रात के
प्रकाश-संताडित अभ्र थे कि जो
अपूर्व-पूर्वाभिमुखी प्रसंग से
पिशंग[1]-आरक्त[2]-मयूख-पुंज हों।

(३८)

न किन्तु ह्लेषा[3]-रव था समीर में
क्षुर-प्रहाराश्व भी न श्रव्य था।
तुरंग संयोजित रश्मि-रज्जु में
खड़े हुये, उन्नत श्याम कर्ण थे।

(३९)

तुरन्त ही दिव्यरथी शतांग से
हुआ मही पै अवतीर्ण सामने;
विनीत हो, और निबद्ध-पाणि हो
यतीन्द्र से की इस भाँति प्रार्थना :—

---

[1]पीली। [2]लाल। [3]घोड़े का शब्द, हिनहिनाहट।

(४०)

"अवाप्त की है वह उच्च भूमिका,
प्रभो ! मिला सो वरदान आपको,
सुदुर्लभा जो मुनि को, मुनीन्द्र को
महा-तपस्या-व्रत-योग-याग से ।

(४१)

"विहीन मिथ्या-मत से हुये, तथा
अधीन हो रंच न काम-क्रोध के,
सुदूर अंधंतम मृत्यु-लोक से
प्रविष्ट होते अब हो द्यु-लोक में ।

(४२)

"अतः चलो संप्रति दिव्य-लोक में—
निसर्ग-अंतःपुर में—जहाँ, प्रभो !
समस्त - देवासुर - मौलि - लालिता
विराजिता है वह आदि-देवता ।

(४३)

"निसर्ग के घूँघट को हटा, सखे !
विलोकिये ज्योति मुखारविन्द की;
अभौम[1] प्रेमी जिस भाँति आप हैं
तथैव दैवी भवदीय प्रेमिका ।"

---

[1]असांसारिक ।

(४४)

प्रशान्त चांचल्य-विहीन देह से
समुत्थिता तत्क्षण आत्म-ज्योति सो
महान पावित्र्य-प्रसन्नतामयी
हुई समारूढ़ शतांग पै तभी

(४५)

मनुष्य के सुन्दर रंग-रूप में
जिनेन्द्र-आत्मा अलकेश[1]-संग ही
हुई समासन्न; तुरन्त व्योम को
विशाल धाराट[2] उड़े विमान ले।

(४६)

विलोक चारों हय का प्रयाण यों
दिनेश के सप्त जवी[3] रुके तभी,
अशब्द-संगीत हुआ पुनः, तथा
पुनः उड़े घोटक चित्र-पक्ष पै।

(४७)

पड़े सुपर्णा[4]-शफ[5]वेगवान हो
पुनः पुनः स्यंदन-मार्ग में जभी
समीर के संस्तर स-स्फुलिंग हो
रथानुगामी बनने लगे तभी।

---

[1]कुबेर। [2]घोड़ा। [3]घोड़े। [4]घोड़ा। [5]खुर।

(४८)

कुबेर ज्यों स्यंदन हाँकते चले,
विलोकते अग्रिम पश्चिमा दिशा,
न वायु-संभूत प्रभूत भूत थे,
वरंच तारे लख व्योम में पड़े।

(४९)

महा जवी[1] घोटक स्वीय चाल की
अधीर झंझानिल चाबते चले;
विलोक मानों प्रिय वस्तु सामने
चले, बढ़े चंचल चाल अश्व वे।

(५०)

चढ़े चतुश्चक्र जहाँ-जहाँ, वहीं
बढ़ी चतुर्धार-मयी क्षण-प्रभा,
धरित्रि के ऊपर, जा अनन्त में
अदृश्य गंत्रीक[2], अश्रव्य हो गया।

(५१)

सुदूर नीचे रथ के अनन्त से
पयोधि आदर्श[3]-समान भासता;
पड़ी वहाँ पै प्रतिबिंबिता प्रभा
शतांग की और शतांग-मार्ग की।

---

[1]वेगवाले। [2]गाड़ी (रथ)। [3]आईना।

(५२)

सुदूर ऊंचे वह ऋक्ष-वृन्द भी
दिखा पड़े रंग-विरंग ज्योति के;
विमोचते थे वह धूमकेतु की
विभा धुरी से सब ओर व्योम में ।

(५३)

यथा-यथा स्यंदन व्योम में बढ़ा
नवग्रहों के कर कक्ष पार यों
तथा-तथा भूमि अदृष्ट हो चली
विवर्द्धिता अश्व-कृता–त्वरा हुई ।

(५४)

तथा-तथा अंशु सहस्र-भानु के
विकीर्ण प्रक्षिप्त शतांग-चक्र-से
बने सभी वे जल की फुहार से
विमुक्त पीछे जल-यान के, अहो !

(५५)

शतांग यों ही बढ़ता चला गया,
हुआ मही-गोल ख-गोल-ऋक्ष[1]-सा
प्रदीप्ति से स्यंदन के चतुर्दिशा
असंख्य तारागण वर्तमान थे ।

---

[1]आकाश के तारों के समान ।

(५६)

अगण्य नक्षत्र अनेक रूप के,
निशेश-वारेश अनेक रंग के,
बँधे हुये एक अदृश्य तार में
अपार ज्योतिर्मयता-निधान[1] थे।

(५७)

शतांग जाता जिस ऋक्ष-कूल से
अ-तेज होता वह वार-चंद्र-सा
परन्तु ज्यों ही हटता सुदूर सो
पुनश्च होती ग्रह-तुल्य दीप्ति थी।

(५८)

समुच्चता के अति उच्च शीर्ष पै
विमान को भी करता विमान[2] ही;
शतांग ज्यों ही पहुंचा कि सामने
दिखा पड़ा मंदिर आदिशक्ति का;

(५९)

कहीं[3] गये हों यदि आप साँझ की
पयोधि-एकान्त-तटी विलोकने,
तथा वहाँ हों ठहरे दिनान्त के
नितान्त अस्तंगत भानु[4] देखने;

---

[1]भांडार। [2]मान-हीन। [3]चार छन्दों का कुलक है। [4]किरणें।

(६०)

अवश्य होगा भवदीय दृष्टि में
सुदृश्य आया वह हेम-जाल का,
प्रतीत होता नयनाभिराम जो
अकंप आलंबित सांध्य सूर्य्य पै;

(६१)

मनोज्ञ अस्ताचल-मेघ-मंडली
अवश्य होगी अधिनेत्र[1] भासती
प्रदीप्त अंभोनिधि-वक्ष-वासिनी
प्रभा-प्रतिष्ठा अभिराम अभ्र[2] की।

(६२)

अवश्य ही तो भवदीय कल्पना
विलोक लेगी शुभ दृश्य सो, कि जो
दिखा पड़ा शाश्वत शक्ति-धाम के
चतुर्दिशा केवल-ज्ञान-वान को।

(६३)

न किन्तु वैसा वह स्वर्ण-द्वीप जो
प्रकाश के मंडल में प्रदीप्त था;
तथा न वैसा वह हेम-जाल, जो
पड़ा हुआ था दिन-नाथ-भाल पै।

---

[1]नेत्र में। [2]बादल।

(६४)

कि रम्य जैसा अभिरामता-भरा
सुदृश्य था शाश्वत शक्ति-धाम का,
मनुष्य-मस्तिष्क - प्रतीत - सौम्यता
अतीत[1] होती उसके समक्ष थी।

(६५)

असंख्य-नक्षत्र-प्रभा मनोरमा
प्रकाशती मंदिर-पाद-पीठ पै,
रुका वहीं स्यंदन; तो कुबेर ने
जिनेन्द्र से की इस भाँति प्रार्थना :—

(६६)

"पधारिये मंदिर में, न है मुझे
सुरेश-आज्ञा सहचार की, प्रभो!"
जिनेन्द्र होके अवतीर्ण यान से
मुदा पधारे उस दिव्यधाम में।

(६७)

प्रविष्ट होते प्रभु ने लखा तभी
विशाल-आकाश-प्रसार एकदा,
गयी जहाँ दृष्टि उसी दिगन्त में
असंख्य नक्षत्र विराजमान थे।

---

[1]गयी-बीती।

(६८)

समस्त तारे नियमानुकूल ही
स्वकीय-अक्षोपरि विद्यमान थे;
परन्तु ऐसी कुछ थी विभिन्नता
नृ-कल्पनातीत प्रतीत जो हुई।

(६९)

स-मौन संगीत समस्त व्योम में
पड़ा सुनायी उनको शनैः शनैः;
शनैः शनैः वे चल मेघ-भूमि[1] पै
प्रविष्ट होने उस धाम में लगे।

(७०)

निवेश-द्वारोपरि ऋक्ष-वृन्द जो
बँधे हुये वन्दनवार-तुल्य थे
प्रकाश-हास्यान्वित हो जिनेन्द्र का
समस्त थे स्वागत ही मना रहे।

(७१)

प्रवृत्त नीराजन[2] में भ-चक्र था
स्फुलिंग-लीलायुत धूमकेतु थे,
कला दिखाती बहु नृत्य की मुदा
मघा[3] विशाखा कृतिका स-रोहिणी।

---

[1]मघों से बनी हुई भूमि। [2]चिराग़-रोशनी। [3]नक्षत्रों के नाम।

(७२)

मरीचि,[१] विश्वा, रुचि, ज्वालिनी, क्षमा,
तथैव धूम्रा, तपिनी, प्रबोधिनी,
सभी कलाएँ दिवसाधिनाथ की
प्रसन्नता-संयुत भासमान थीं।

(७३)

समेत पूषा[२], धृति, तुष्टि, पुष्टि के
स-मानदा श्री, रति, अंगदा, सभी
निशेश की मंजुकला अनंत में
अनूप आमोद-प्रमोद-युक्त थीं।

(७४)

अक्षय्य निर्वाण-पद-प्रदायिनी
कि हस्त-सूत्रोचित[३]-कर्म-योजना
हुयी अछेरा[४]-कृति या कि आर्य्य की
अवर्णनीया घटना अपार्थिवा।

(७५)

कुबेर से दो डग अग्रगामि था,
स-तर्क था और प्रबोध-युक्त था,
परन्तु तो भी अति ही अवाक हो
विलोकता ही अनिमेष मैं रहा।

---

[१]सूर्य्य की कलाएँ। [२]चंद्रमा की कलाओं के नाम। [३]विवाहोचित।
[४]भगवान का प्रथमसमवसरण जो देवताओं के साथ हुआ।

(७६)

विलोचनों में रसना न थी, तथा
विलोचनों से रसना विहीन थी,
बखानता तो किस भाँति मैं, कहो
कि क्या हुआ, या किस भाँति से हुआ?

(७७)

मनुष्य से भाषण में मनुष्य की
सुबुद्धि होती अति तीव्र तत्परा;
परन्तु द्रष्टा कहता स्व-भक्त से
सुवाक्य एकान्त-निकेत में सदा।

(७८)

जहाँ न पानी-पवनानलादि का
प्रवेश होता महि का न व्योम का
नितान्त एकान्त-निवास में कहीं
जिनेन्द्र थे, और अनन्त शक्ति थी।

(७९)

पवित्र एकान्त ! त्वदीय अंक में,
त्वदीय छाया-मय मंजु कुंज में,
मुनीन्द्र, योगीन्द्र, किसे न अंत में
सदैव दैवी-सहचारिणी[1] मिली।

---

[1]मुक्ति स्त्री।

(८०)

खड़ा रहा स्यंदन एक याम यों
जिनेन्द्र लौटे सँग दिव्य शक्ति के;
प्रकाश के अंबर में छिपे हुये
सु-व्यक्ति दोनों द्रुत एक हो गये।

(८१)

कुबेर ने सत्वर ही जिनेन्द्र को
शतांग में सादर ज्यों बिठा लिया;
कि त्यों लगे स्यंदन-चक्र घूमने
तुरंग देवालय-द्वार से मुड़े।

(८२)

शतांग-चक्राहत-व्योम-मार्ग में
प्रदीप्त होने वहु भस्मनी[1] लगीं
पुनः पुनः र्वचिष[2] व्योम-र्चांचनी
स्फुलिंग-माला बहु फेंकने लगीं।

(८३)

यथा-यथा स्यंदन व्योम के तले
चला महा आतुर तीव्र चाल से
तथा-तथा तारक उच्च धाम के
हुये परिक्षाम[3] प्रकाश-बिन्दु-से।

---

[1]किरणें, लपटें। [2]अग्नि। [3]दुबले।

(८४)

तथा-तथा आगत व्योम-चक्र से
मनोज्ञ संगीत अश्रूय[1]माण हो,
विलीन होता नभ में नितान्त ही
सुना गया था, न सुना गया तथा ।

(८५)

तथा-तथा ही नभ की गँभीरता
अनन्त थी, सो फिर सान्त हो गयी;
उसी शिला के तट यान आ रुका
जिनेन्द्र-आत्मा फिर देहिनी[2] बनी ।

(८६)

तथैव स्वर्गीय-प्रकाश-मार्ग से
चला पुनः, स्यंदन लुप्त हो गया ।
जिनेन्द्र ने लोचन खोल जो लखा
हुई प्रतीता ऋजुबालिका-तटी ।

(८७)

महायती के हृदयानुबिम्ब से,
प्रसन्नता से पृथवी प्रपूर्ण थी;
प्रसक्त था आनन मुग्ध भाव में
कि मूक प्राणी गुड़ खा गया कहीं ।

---

[1]न सुनी गयी । [2]शरीरिणी ।

(८८)

प्रवृत्ति सर्वज्ञ-विभावना-मयी
हुई अवाप्ता वह सर्व-दर्शिता;
मिला उन्हें भूत-भविष्य-काल का
त्रिलोक का सम्यक ज्ञान अंत में।

(८९)

हुआ उन्हें यों व्यवधान[१] सूक्ष्म का—
सुविज्ञता मूर्त-अमूर्त द्रव्य की—
कि देवता-दुर्लभ ज्ञान-प्राप्ति से
हुये प्रचेता भगवान अंत में।

(९०)

कलोलने पादप पै खगावली
लगी, बनी मोद-मयी महान ही,
रहे नदी में पृथुलोम[२] कूदते
विलोकते ही अनिमेष हो गये।

(९१)

सुहावना माधव-मास मंजु था
प्रसन्नता से परिपूर्ण रोदसी,
चतुर्थ था वासर-याम भी, जभी
मिला, अहो! केवल-ज्ञान देव को।

---

[१]ज्ञान। [२]मछली।

(९२)

विलोक विज्ञान-निधान आर्य्य[1] को
दिनेश अस्तंगत हो चला तभी,
कि सूचना था वह दे रहा, न है,
रही न आवश्यकता प्रकाश की ।

(९३)

जिनेन्द्र ही एक द्वितीय सूर्य्य हैं
सदा-प्रकाशी, दिन में निशीथ में,
न जीव होंगे अघ-ओघ से दुखी
न पा सकेगा सुख अंधकार भी ।

(९४)

विलोक सन्ध्या बहु देव-धाम में
प्रसन्न बाजे बजने लगे तभी
अनभ्र आकाश विराजमान था
चतुर्दिशा निर्मल दिग्विभाग में ।

(९५)

प्रभात-उत्फुल्ल प्रसून साँझ में
गिरे सपर्य्या[2] रचते जिनेन्द्र की
समीर भी शीतल मंद-गंध ले
बहा महाब्राह्मण-पूजनार्थ था ।

---

[1]श्री महावीर । [2]पूजा अर्चा ।

(९६)

प्रवृत्त नक्षत्र स-हस्त उत्तरा,
शुभा घटी, उत्तम चंद्र-योग था;
अतीव सौभाग्य-प्रदा जिनेन्द्र को
मिलीं नवा क्षायिक-लब्धियाँ[1] जभी।

(९७)

गिरा मही में पट अंधकार का
समस्त भू यों तमसावृता हुई,
कि जीव आये प्रभु-वन्दनार्थ जो
न जानते वे नर थे कि देव थे।

(९८)

उसी घड़ी शंख-निनाद हो उठा
विषाण, वंशी, ढफ, वल्लकी[2] बजे
चतुर्दिशा भक्ति-समेत प्रार्थना
दिगन्त में यों प्रतिशब्दिता हुई :—

(९९)

"समस्त-संसार-समुद्र-सेतु को,
सुरेन्द्र-संपूजित-धर्म-केतु को,
अनन्त आभा-मय वीर विक्रमी
महा महावीर ! प्रणाम आपको।

---

[1]कर्मोंके क्षयसे प्रकट होने वाले अनन्त सुख, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन आदि ९ भाव। [2]वीणा।

(१००)

"सुवीर वीराग्रिम विक्रमी तुम्हीं
निपातते संतत कर्म-मल्ल हो;
परीषहों के उपसर्ग जीतते,
कृतार्थ धर्म-ध्वज ! यत्न आपके ।

(१०१)

"सदैव इन्द्रादिक पूजते जिन्हें
सराहते हैं मुनि-सूरि[1]-सिद्ध भी,
अनन्त भू में जिनकी गुणावली,
विहार में मग्न अभीत सिंह-सी ।

(१०२)

"जिन्हें मिली है वहिरंग-संपदा,
तथैव लक्ष्मी बहु अंतरंग की,
अनन्त आत्मीय गुणानुवृत्ति के
समूह श्री-संयुत देव-देव हैं ।

(१०३)

"तुम्हीं विजेता प्रभु ! कर्म-शत्रु के
महान वीराग्रिम नामधेय[2] हो,
प्रसिद्ध होगे तुम वीर नाम से
प्रभो ! विजेता मद-मान-मोह के ।

---

[1]पंडित । [2]नाम ।

(१०४)

"सदैव संरक्षक जीव-जन्तु के,
प्रकाश-कर्ता नव धर्म-मार्ग के,
सहाय हों केवल-ज्ञान-संग्रही,
प्रवृत्त हों विघ्न-विनाश में सदा।

(१०५)

"निवृत्त जो मोह-मदादि-शत्रु से,
रथी अहिंसा-मय श्रेष्ठ धर्म के,
परीषहाम्बोधि-तपो-तरंत[1] जो
स्वधर्म-संस्थापक ख्यात विश्व में।

(१०६)

"विनष्ट चारों गतियाँ किये हुये
त्रिलोक-लक्ष्मी करते प्रदान हो;
प्रपंच सारे न सता सके तुम्हें
प्रणाम हे सत्तम ! केवली, प्रभो !

(१०७)

"न लोभ के वश्य[2], न काम-क्रोध के,
न मोह के दास, न द्रोह-दंभ के,
विमोहते जो मद-मान विश्व का
नमामि ऐसे नर-नाथ ! आपको।

---

[1]नौका। [2]वशीभूत।

(१०८)

"महा महावीर, नमामि आपको,
सुधीर, गंभीर, नमामि आपको,
नमामि कर्म-क्षय-हेतु आपको,
सदाश्रयी, श्रीवर हे, नमामहे ।

(१०९)

"महान संवेग-समेत आप हैं,
न मुक्ति-दारा तजती कभी तुम्हें,
विरक्त हो कामज-सौख्य-भाव से
विशिष्ट वीराग्रिम वीर विक्रमी ।

(११०)

"विहीन जो सर्व परिग्रहादि से,
प्रसक्त जो पाकर मोक्ष-इन्दिरा,
सदा समारूढ़ महान-ज्ञान पै,
प्रणाम है, हे मुनि, वीर, आपको ।

(१११)

"विनाशते केवल-ज्ञान-सूर्य्य से
तुम्हीं जगद्-ध्वान्त प्रशान्त-चित्त हो,
विशेष विश्वार्थ[१]-प्रदर्शनार्थ ही
हुये समुत्पन्न जगन्निवास हो ।

---

[१]संसार का लाभ ।

(११२)

"नरेन्द्र हो केवल-ज्ञान-राज्य के,
महेन्द्र हो भू-अवतीर्ण[1] स्वर्ग के,
प्रचार-कर्ता नव-धर्म-तत्त्व के,
नमामि हे नाथ समस्त विश्व के।

(११३)

"प्रभो! तुम्हीं केवल-ज्ञान-भानु हो,
अशेष-विश्वेश! प्रणाम आप को;
तुम्हीं कृपा-सिंधु दया-निधान हो,
प्रसिद्ध त्राता जग-जीव-जन्तु के।

(११४)

"प्रणाम श्री-सागर ज्ञान-सिंधु को
प्रणाम भू-भूषण विश्व-बंधु को,
नमामि सत्यार्थ-प्रकाश-भानु को,
नमामि तत्त्वार्थ-विकास-सानु[2] को।"

[द्रुतविलंबित]

(११५)

इस प्रकार महा अनुराग से
जगत था करता जब प्रार्थना;
प्रभु अचंचल-चित्त उठे, तथा
चल दिये, लखिये, किस ओर को?

---

[1]भूमि पर आगत। [2]चोटी।

सत्रहवां सर्ग

[वंशस्थ]

(१)

जिनेन्द्र की संस्तुति का पुनः पुनः
हुआ प्रतिध्वान[1] समस्त लोक में;
अपूर्ण शोभी दशमी द्विजेश भी
समेत-नक्षत्र प्रपूर्ण-सा लसा।

(२)

दिगन्तव्यापी व्यनुनाद[2] व्योम में
मुहुर्मुहु-मंथर-चार-लग्न था;
हुई प्रसन्ना ऋजु-वालिका-तटी
स-कौमुदी थी कुमुदावली-समा।

(३)

हुई प्रजा के कल-कंठ-नाद से
प्रतिध्वनि-स्तंभित रोदसी सभी,
सम-स्थली में व्यनुनाद-वीचियाँ
प्रकाश-संचालित वेग से बढ़ीं।

---

[1]प्रतिशब्द। [2]शब्द।

(४)

न केवला शैल-गुफा विनिर्गता
प्रतिध्वनि स्फारित[1] व्योम में हुई,
समस्त भू के, वन के, तडाग के
प्रहृष्ट प्राणी बहु-भव्य-भाव थे ।

(५)

परन्तु ज्योंही वह लीन हो गयी,
नितान्त निस्तब्ध हुई वसुंधरा,
न दु:ख, मानों दुख की प्रतीति-सी,
अ-शब्दता मौन प्रतीत हो उठी ।

(६)

जिनेन्द्र के आनन से परन्तु थी
हुई न वाक्यामृत-धार-नि:सृता;
तुरन्त प्राणी-प्रति शब्द-तुल्य वे
उठे, चले, और अदृष्ट हो गये।

(७)

चले महाविप्र समस्त यामिनी
गये जहाँ संस्थित मध्यमा[2]-पुरी;
सु-विक्रिया-ऋद्धि-प्रभाव से, अहो !
किया कई योजन-मार्ग पार यों ।

---

[1]फैली हुई । [2]पावा (मध्यमा)

(८)

जिनेन्द्र सूर्य्योदय-काल में धँसे
जहाँ कि पावा नगरी प्रसिद्ध थी;
मुहूर्त ऐसा मिलता न सर्वदा
पवित्र जो था, विजयाभिराम[१] था।

(९)

विलोक पावा-पुर-पौर-वृन्द ने
प्रणाम से स्वागत देव का किया;
प्रभात से ही प्रति-गेह में चली
मनोज्ञ चर्चा प्रभु के प्रभाव की।

(१०)

जहाँ-जहाँ के पथ से चले सुधी
वहाँ-वहाँ के सब पौर धन्य थे;
—कि साधु देखे इनके न तुल्य, या
न ब्रह्मचारी इनके समान है।

(११)

कहा किसी ने इन-सा यती नहीं,
सुना किसी ने इन-सा व्रती नहीं;
यही समाचार समस्त ग्राम में
तुरन्त फैला कि यतीन्द्र आ गये।

---

[१]विजय-प्राप्ति की आशा से मनोहर।

(१२)

प्रभात से ही नर-नारि-वृन्द में
हुआ समुद्वेलित सिंधु हर्ष का,
उठी डुबोती गृह-कार्य सर्वशः
अनूप-आनंद-तरंग चित्त में।

(१३)

मनोज्ञ ग्रामोत्तर में प्रसिद्ध थी
जहाँ महासेन-समाख्य[1] बाटिका
वहीं रुके जाकर देव प्रात में——
मिला समाचार समस्त ग्राम को।

(१४)

तुरन्त नारी-नर का समाज भी
चला कृतारण्य[2]-समीप मोद में;
न साधु ऐसा, इस ग्राम में कभी
यती न आया प्रभु-सा प्रसिद्ध था।

(१५)

विलोक शोभा वदनारविन्द की,
निहार आभा प्रभु-अंग-अंग की,
बखानते थे सब एक-कंठ हो
कि मूर्तिमाना तप-सिद्धि आ गयी।

---

[1]'महासेन' इस सुन्दर नाम की। [2]उद्यान।

(१६)

जिनेन्द्र थे यद्यपि जानते सभी
तथापि पूछा जब वृत्त ग्राम का,
पता चला सोमिल[1] विप्रराज के
यहाँ महा उत्तम याग हो रहा।

(१७)

हुये सहस्रों समवेत[2] विप्र थे,
अशेष ज्ञाता वह वेद-शास्त्र के,
समाज ऐसा न विहार-प्रान्त में
कदापि एकत्र हुआ, न भाव्य[3] है।

(१८)

सु-योग ऐसा प्रभु ने विचार के
कहा कि "मैं ब्राह्मण-प्रीति-पात्र हूँ;
सदैव चिंता इनको स्व-धर्म की
रही, रहेगी द्विज त्याग-मूर्ति हैं।

(१९)

"अतः सुनें ये उपदेश मामकी,
प्रचार भू में जिन-धर्म का करें;
सदैव शिक्षा अपने चरित्र से
धरित्रि में दें नर-नारि-वृन्द को।

---

[1]सोमिलाचार्य्य। [2]इकट्ठा। [3]होने वाला।

(२०)

"बिता रहे जीवन अन्य लोग हैं
अजस्र आहार-विहार-मात्र में;
परन्तु हैं ब्राह्मण सत्य-रूप जो
रहस्य-ज्ञाता बहु-धर्म-कर्म के।

(२१)

"जिसे न आसक्ति, जिसे न शोक ही
कदापि आगंतुक[1] से चरिष्णु[2] से,
प्रमोद पाता बहु धर्म-भाव में,
वही कहा ब्राह्मण विश्व में गया।

(२२)

"विशुद्ध जो अग्नि-विदग्ध हेम-सा
खरा दिखाता निकषोपलादि[3] पै,
विहीन है जो भय-राग-द्वेष से
वही कहा ब्राह्मण साधु से गया।

(२३)

"तपोधनी, इन्द्रिय-निग्रही तथा
महाव्रती, पीड़ित लोक-ताप से,
जिसे मिला संगम आत्म-शान्ति का
कहा गया ब्राह्मण श्रेष्ठ है वही।

---

[1]आनेवाला। [2]जानेवाला। [3]कसौटी अथवा अन्य परीक्षा-साधन।

(२४)

"समत्व जो स्थावर-जंगमादि में
विलोकता है निज दिव्य दृष्टि से,
त्रिधा[1] अहिंसा परिपालता, वही
प्रशस्य[2] है ब्राह्मण जीव-लोक में।

(२५)

"न स्वप्न में भी कहता अ-सत्य है,
तथैव पूजा-रत ब्रह्म-ध्यान में,
न लोभ-क्रोधादिक के अधीन जो
वही सुना ब्राह्मण शास्त्र में गया।

(२६)

"स-चित्त[3] हो, या कि अचित्त[4] वस्तु हो,
अनल्प हो, या कि अभूरि द्रव्य हो,
जिसे न हो ग्राह्य निदेश के बिना
वही सुना ब्राह्मण लोक में गया।

(२७)

"न चित्त से या तन से न वाक्य से
विचारता मैथुन प्राणि-मात्र में,
सदैव संस्तुत्य सभी प्रकार से
वही सुना ब्राह्मण शास्त्र में गया।

---

[1]मनसा, वाचा, कर्मणा। [2]प्रशंसनीय। [3]सजीव। [4]मृत।

(२८)

"प्रलिप्त जो है न कदापि लोक में,
सरोज के पत्र-समान नीर में,
अ-संग है जो नर काम-भोग से,
महाव्रती ब्राह्मण पूज्य है वही ।

(२९)

"विरक्त है जो गृह से, गृहस्थ से,
तथा, अनासक्त[1] समस्त लोक से,
बना अनागार[2] अ-ग्रंथ[3] जो, वही
त्रिलोक में ब्राह्मण पूजनीय है ।

(३०)

"समत्व में ही श्रमणाभिधानता,
जिसे लखाती नर ज्ञान-युक्त सो,
स्वभाव से या गुण-कर्म से सभी
मनुष्य होते अध-ऊर्ध्व वर्ण के ।

(३१)

"लखा गया कर्म-प्रधान विश्व है,
सुना गया धर्म-प्रधान विप्र भी,
प्रसिद्ध है ब्राह्मण ब्रह्मचर्य्य से
तथा तपस्वी तप से सु-पूज्य है ।"

---

[1]असंलग्न । [2]गृह-हीन । [3]अपरिग्रही ।

(३२)

जिनेन्द्र-वार्ता सुन विप्र-मंडली
हुई समाकर्षित प्रेम-भाव से
द्विजोत्तमों से अपराह्न-काल[1] में
समस्त उद्यान प्रपूर्ण हो गया।

(३३)

चतुर्दिशा वेष्टित विप्र-वृन्द से
निविष्ट पूर्वाभिमुखी जिनेन्द्र की
हुई सुधर्मा-सम सांध्य-काल में
प्रतीत सर्वोपरि धर्म की सभा।

(३४)

किया समारंभ जिनेन्द्र ने तदा
स्वकीय संभाषण धर्म से भरा,
अशेष-भाषा-अनुगामिनी गिरा
बही त्रिस्रोता[2]-सम अर्ध-मागधी।

(३५)

कही गयी बंधन-मोक्ष-वस्तु क्या,
रहस्य क्या लोक-अलोक भाव का,
पदार्थ क्या आस्रव-संवरादि हैं,
कहें किसे जीव-अजीव-भावना।

---

[1]तीसरे पहर। [2]गंगा (जिनेन्द्र द्वारा)

(३६)

कषाय-संलेखन[1] का प्रकार क्या
विनाशती है गति निर्जरा किसे,
मनुष्य को सम्यक एषणीय[2] क्या,
सभी स-व्याख्या भगवानने कहा ।

(३७)

जिनेन्द्र ने भाषित अंत में किया
कि "दुर्लभा एक मनुष्य-योनि है,
अतः इसे ही सफला बनाइये
अवाप्त हो केवल-ज्ञान आपको ।"

(३८)

यथैव गंगा हिम-शैल-मूर्धजा
धरित्रि में पावन-कारिणी बनी,
तथैव वाचा सरसा जिनेन्द्र की
बनी पवित्रा द्विज-वृन्द के लिए ।

(३९)

महायती के उपदेश-ज्ञान का
अगाध गांभीर्य्य विचार बुद्धि से,
तुरन्त अन्तर्दृग[3] विप्र हो गये
निहार आभा वदनारविन्द की ।

---

[1]मिटाना । [2]इच्छा करने योग्य । [3]आत्म-दर्शी ।

(४०)

समागता ब्राह्मण-मंडली सभी
अशेष-ज्ञानी प्रभु के पदाब्ज में
मिलिन्द-सी आतुर लोटने लगी
मिली रजोराशि विराग-सी उसे ।

(४१)

प्रधान एकादश विप्र शीघ्र ही
जिनेन्द्र के उत्तम शिष्य हो गये,
बनें स्वयं-दीक्षित[१] नेमि,[२] और वे
प्रसिद्ध आरे जिन-धर्म-चक्र के ।

(४२)

अपूर्व-भूता घटना विलोक के
स-वेग साधारण पौर और भी
समस्त एकत्र हुये चकोर-से
जिनेन्द्र का आनन-चंद्र देखने ।

[द्रुतविलंबित]

(४३)

लख सुधी उस पौर-समूह को,
जगत की गति पै निज ध्यान दे,
बहु दिये उपदेश, सुनो जिन्हें
विगत-छान्दस[३] ने न किये कभी ।

---

[१]जिनदीक्षायुक्त मुनि । [२]पहियेका केन्द्र । [३]गत कविगण, प्रचीन ग्रंन्थ-कर्ता ।

(४४)

बहु शुभाशुभ मानव-वृत्तियाँ
कथित यों बहुधा उनसे हुईं;
सुन जिन्हें बहु पौर-समाज ने
हृदय शुद्ध किया, गति प्राप्त की।

[वंशस्थ]

(४५)

कलंक है केवल एक पाप में,
न पाप-द्वारा कृत दंड-भोग में;
अवश्य पाप्मा[1] बहु दोष-युक्त है;
कुकर्म-कर्मा नर दंडनीय है।

(४६)

कदापि पापी न प्रमोद पा सके,
अहर्निशा दैव यही विचारता,
अनेक ऐसे अकलंक कर्म हैं
लिखे गये जो स-कलंक स्वर्ग में।

(४७)

मनुष्य-आत्मा यदि पाप-कारिणी,
प्रशान्ति पाती न कदापि स्वर्ग में;
वरंच होती भय-भीत दंड से,
अशान्त होता दिनरात चित्त है।

---

[1] पापी।

(४८)

पहाड़ चाहे गिर पाप पै पड़े,
निपात हो यद्यपि सप्त व्योम का,
परन्तु तो भी छिपते न हैं कभी
अवश्य होते सब व्याप्त दृष्टि में ।

(४९)

घृणामयी[1] लोचन-पुत्तली जभी
महा जुगुप्सा[2] करती, विलोकती;
पदार्थ से दूर हटी, फिरी, झुकी,
लुकी, हुई बंद, सकी न देख भी ।

(५०)

न भीति से संपति-काल रिक्त है,
विपत्ति आशा-सुख से न मुक्त है,
न व्यर्थ आलिंगन दुःख का कभी
यही सुखी जीवन-मार्ग, जानिये ।

(५१)

स्व-धर्म की गुप्त सुषुप्त भावना
विपत्ति में जागृत हो उठे जभी,
विचूर्ण हो बंजुल[3] का प्रसून तो
सुगंध ही मानव-चित्त मोहती ।

---

[1]घृणा का प्रभाव, घृणा की निंदा । [2]घृणा । [3]पुष्प-विशेष ।

(५२)

यथा उगाती निज अंक में निशा
प्रफुल्ल तारावलि व्योम-रंजिनी,
विपत्ति भी मानव की गुणावली
प्रकाशती है, करती प्रकृष्ट है।

(५३)

यथैव पाये मरु-देश में गये
सु-विक्रमी स्तुत्य क्रमेलकाश्व[1] हैं;
तथैव आते गुण हैं मनुष्य में
विपत्ति के काल-प्रदेश से सदा।

(५४)

विपत्ति-छाया-तरु के तले जभी
विराजता है नर मौन धार के,
तभी वहाँ आकर देव-दूत भी
प्रभूत देते वरदान विश्व के।

(५५)

कभी-कभी मूर्ख मनुष्य क्रोध में
अवश्य होता कुछ तीव्र-बुद्धि है,
परन्तु तो भी रहता विमूढ़ ही
प्रकोप में बौद्धिक लोप निष्ठ है।

---

[1]ऊंट और घोड़े।

(५६)

महा बुभुक्षा-सम क्रोध भाव है,
उसे सदा खाद्य-पदार्थ चाहिए,
मृगेन्द्र का दारण[१] ही स्वभाव है;
प्रकोप का मारण ही प्रभाव है।

(५७)

किया नहीं जो अधिकार क्रोध पै,
जमा उसी पै अधिकार कोप का;
लुलाय,[२] हो क्रोधित, स्वीय शृंग पै
सदा उठाता बहु भार घास का

(५८)

न क्रोध हो, तो फिर पाप भी नहीं,
न कोप हो, तो अभिशाप भी नहीं,
न मन्यु[३] हो, तो न अमान[४] भी कहीं,
न रोष हो, तो न अशान्ति भी कहीं।

(५९)

अतीव श्रेयस्कर लोभ-त्याग है
पिता बना जो सुख-प्राप्ति-भाव का,
मनुष्य बुड्ढा बनता प्रलोभ से,
सदैव लिप्सा[५] उपजा सकी तृषा।

---

[१]नोचना। [२]भैंसा। [३]क्रोध। [४]अपमान। [५]पाने की इच्छा।

(६०)

मनुष्य जो निर्धन द्रव्य माँगता,
परन्तु लोभी सब सिद्ध चाहता,
प्रवृद्ध होता प्रति-लाभ लोभ है
यही महा अस्पृहणीय[1] विश्व में।

(६१)

न आपको भी रखता विसर्ज्य है,
न पाप कोई इससे अवर्ज्य है,
प्रसूति है लोभ महान द्वेष की
प्रसिद्ध क्रोधादिक का पिता यही।

(६२)

मनुष्य लोभी धन ही विलोकता
न देखता द्रव्य विपत्ति-हेतु है,
यथैव मार्जार[2] विलोकता दही
न देखता दंड तना समक्ष ही।

(६३)

भरा हुआ यद्यपि स्नेह[3]-द्रव्य से,
समृद्ध है पूर्ण-दशा[4]-विशेष से,
तथापि होता मल-युक्त[5] दीप है
विलोक लब्धोदय[6] पद्मबंधु[7] को।

---

[1]अनिच्छित। [2]बिलौटा। [3]तैल। [4]बत्ती। [5]काजल। [6]उदित। [7]सूर्य्य।

(६४)

धरित्रि खोदी, रस-सिद्धि की, तथा
समुद्र लाँघा, गिरि पार भी किया,
सभी दुखों का सहना मनुष्य में
महान विस्फूर्जित[1] है प्रलोभ का।

(६५)

न वस्तु निंदा-सम शीघ्र-गामिनी,
तथैव ऐसी सरला न अन्य है,
प्रसार होता इस-सा न अन्य का,
न व्याप्ति होती पर-वस्तु की यहाँ।

(६६)

स-गर्व निन्दा करती प्रहार तो
न पुण्यवत्ता बचती कदापि है,
न दुग्ध-सा श्वेत-चरित्र जीव भी
धरित्रि में है अपवाद[2] से बचा।

(६७)

निराश प्राणी अति मंद-भाग्य है,
रही न, आशा जिसको धरित्रि में;
तमिस्र से पूर्ण हताश जीव की
निशा न नक्षत्र प्रकाशती कभी।

---

[1]स्पष्ट होना। [2]कलंक।

(६८)

जिसे न कोई सुख है, न शान्ति है,
न जीवनाशा[1] जिसमें स-कान्ति है
जिसे किया वेष्टित नित्य भ्रान्ति ने
हताश प्राणी कब दीर्घ जी सका।

(६९)

निशीथिनी[2] जीवन-संगिनी जिसे
तथा निराशा जिसकी कु-स्वामिनी
उसे कहाँ सौख्य, कहाँ प्रसन्नता;
अहो ! घटी भी युग-तुल्य दीर्घ है।

(७०)

सु-मित्र जाते कहते निराश-से,
न प्रेम-द्वारा व्रण पूर्ण हो सका;
सु-वैद्य भी यों कहते चले गये,
समा चुका है यह रोग अस्थि में।

(७१)

धरित्रि में क्रीडन-वस्तुएं सभी,
उदात्त-भावावलि नष्ट हो रही,
खिंचा यहाँ का सब तत्त्व मद्य-सा
रहा-सहा सो सब नष्ट-भ्रष्ट है।

---

[1]जीने की आशा। [2]रात्रि।

(७२)

स-यत्न बोये बहु बीज लाभ के
अनिच्छिता प्रत्युत[1] हानि ही हुई,
यही निराशा अति दुःख-दायिनी,
दिनान्त आया कि विभावरी हुई।

(७३)

लखा कृतारण्य-समीप आम्र ही
विलोक आस्वादन-हेतु जो बढ़े;
नितान्त ही वे सब अम्ल-चुक्क[2] थे
किसे कहें विश्वसनीय विश्व में।

(७४)

समक्ष आशा लख मूर्त थी, चले
बढ़े जभी यौवन के प्रवेग में,
परन्तु छाया-सम भागती गई
न छू सके, वासर अस्त हो गया।

(७५)

लखा न संतुष्ट मनुष्य विश्व में
गयी बुभुक्षा न, प्रकाम[3] खा चुके,
धनाढ्य-प्राणी बहुधा दरिद्र हैं,
गुणाढ्य को भी गुण और चाहिये।

---

[1]बल्कि। [2]खट्टे। [3]खूब।

(७६)

लखा असंतोष मनुष्य-भाल पै
भरा हुआ मानस दुःख-नीर से,
विलोचनों में उमड़े पयोद थे,
अधीरता आनन में विराजती ।

(७७)

लखी गयी दुःख-बिना कराह है;
सुना गया रोदन हेतु के बिना ।
न रंच आवश्यकता प्रपंच की
अतुष्टि ही है अनुभूत हो रही ।

(७८)

अहो, असंतुष्ट-मनुष्य-चित्त में
न प्राप्ति का आदर है, न मान है,
जिसे नहीं इच्छित 'देव-दत्त' हो
बने न 'भिक्खूमल' कौन रोकता[1] ?

(७९)

कृतघ्न प्राणी-सम दुष्ट जीव को
धरित्रि-उत्पत्ति न दे सकी कभी,
वसुन्धरा-मध्य अनेक पाप हैं;
यही महा पाप, महा कु-कर्म हैं ।

---

[1] जो मनुष्य अपना नाम 'देवदत्त' न रखना चाहे, वह 'भिक्खूमल ही रखले ।

(८०)

सुतीक्ष्णता में अथवा विघात[1] म
सुरेन्द्र का वज्र प्रसिद्ध लोक में;
परन्तु सो भी इस-सा न तीक्ष्ण है
प्रहार में, मारण में कि वेध[2] में

(८१)

सहस्र-आशीविष-दंश तुच्छ हैं,
असंख्य भी वृश्चन[3]-डंक सूक्ष्म हैं,
अगण्य दैवी अभिशाप व्योम से
प्रकांड वर्षा करते कृतघ्न पै।

(८२)

कृतघ्न है जो कृत को न मानता,
कृतघ्न है जो रखता रहस्य है,
कृतघ्न है जो बदला[4] न दे सकें,
कृतघ्न है मानव भूल जाय जो।

[द्रुतविलंबित]

(८३)

इस प्रकार कहे कुछ दोष जो
मनुज का करते विनिपात हैं;
फिर लगे कहने गुण जो सदा
शुभ-समुत्थित जीवन-हेतु हैं।

---

[1]चोट। [2]वेधन। [3]बिच्छू। [4]प्रत्युपकार।

[वंशस्थ]

(८४)

प्रशंसकों को हम प्रेम-भाव से
विलोकते हैं, करते सु-प्रीति हैं
बने हमारी स्तुति के सु-पात्र जो
न सर्वदा वे नर प्रीति-पात्र हैं।

(८५)

सदा प्रशंसा करना मनुष्य की,
कि जो महा आदरणीय व्यक्ति हो,
मनुष्य का उच्च उदार भाव है,
गुणावली के स्रग[1] का सुमेरु[2]-सा।

(८६)

लखा गया मार्दव ही मनुष्य के
विनाशता जीवन के कटुत्व को,
अशेष अंगार, इसे प्रशैत्य दो,
जला सके चित्त न चित्तवान का।

(८७)

कभी हँसाते शिशु साधु-संत को
विलोकिये यों हँसते हुये उन्हें;
कि खींचते वस्त्र, करस्थ गात्र भी,
प्रसन्न होते करते विनोद हैं।

---

[1]माला। [2]प्रधान गुरिया।

(८८)

असार जाती वह प्रेम-प्रक्रिया
न आर्द्र होता यदि अन्य जीव तो,
पयोधि का नीर यथैव लौटता
पयोधि को भूमि विहाय अंत में।

(८९)

कहो, बचाया किसने न नाश से
कभी-कभी सूक्ष्म पदार्थ तुच्छ जो,
गिरा हुआ पुण्य, फिरी हुई शिला,
मुड़ी अँगूठी कि अराल बाल भी।

(९०)

उदारता है अघ-ओघ ढाँकती,
परन्तु फैले यदि स्वीय गेह से;
सुवृक्ष-सा सिंचित देव-वृन्द से
उदार प्राणी फलवान है सदा।

(९१)

कुलीनता, कोमलता, विनम्रता,
विशुद्धता, आत्म-पवित्रता तथा
निवास आके करते उदार म
इन्हीं गुणों से जित[1] सर्व-भूमि है।

---

[1] जीती गयी।

(९२)

उदारता शान्ति प्रसारती जहाँ,
जहाँ पदों से करती पवित्र भू;
कुबुद्धि के वक्र स्वभाव को वहीं
विनाश देती ऋजुता[1] प्रभाव से।

(९३)

उदारता है मृदु भाव चित्त का
न हस्त का और न प्राप्त द्रव्य का;
धरित्रि में वर्षण साम्य-भाव से
पयोद में है अथवा उदार में।

(९४)

पवित्र से भी अति ही पवित्र जो,
समुज्ज्वला मौक्तिक-ओस-बुंद-सी,
वही धरा में अकलंक चंद्रमा
पतिव्रता-चारु-चरित्र स्तुत्य है।

(९५)

सुभीरु पातिव्रत-वर्म्म[2]-सज्जिता,
अभीरु पातिव्रत-शस्त्र-संयुता,
अरण्य में भी सुर-वृन्द-रक्षिता
पवित्र नारी सबला महान है।

---

[1]सरलता। [2]तन-त्राण, कवच।

(९६)

पवित्रता नारि-शरीर की उसे
सदा बनाती अति पूत-बुद्धि है;
मनुष्य को मंदिर-मध्य पुण्य से
अवाप्त होती ललना पतिव्रता।

(९७)

अवश्य पातिव्रत एक रत्न है,
मिला न जो पंकिल सिंधु में कभी,
खिला सका स्वर्ग्य प्रकाश गेह में,
बना सका रत्नवती वसुन्धरा।

(९८)

मनुष्य भू में उगता प्रसून-सा
समेत इच्छा हृदयस्थ गन्ध-सी,
समीप आते जब भाव भृङ्ग-से
सदा बनाते फलवान हैं उसे।

(९९)

पतंग भू के उडु-वृन्द चाहते,
निशीथ भी नित्य प्रभात चाहती,
मनुष्य के जीवन में विषाद[1] दो
न चाहना एक, द्वितीय चाहना।

---

[1] दुःख-चिन्ता।

(१००)

समर्थ होते धृतराष्ट्र जो कहीं
स्व-पुत्र-इच्छा-बल के निपात में,
प्रपूर्ण होता यह देश कीर्ति से
कदापि युद्धाग्नि न दाहती इसे ।

(१०१)

समर्थ होता यदि जीव यत्न में—
धरित्रि के बन्धन के विनाश में;
न स्वर्ग था दूर किसी प्रकार भी
अवश्य होता अवतीर्ण भूमि पै ।

(१०२)

मनुष्य के जीवन की सुधा तथा
सदा नवेच्छा-जननी[1] प्रसिद्ध जो
प्रसन्न आशा मन-पक्ष-चारिणी
विहारिणी संतत सर्व-लोक की ।

(१०३)

मनुष्य का जागृत स्वप्न है यही
विपत्ति की औषध शुल्क[2]-हीन है
सदैव जो दुःखित चित्त-भार की
प्रवाहिनी है सरिता-शिरा-समा ।

---

[1]नवीन इच्छाओंको उत्पन्न करनेवाली । [2]मूल्य या फीस ।

(१०४)

प्रफुल्ल आशा नव वाटिका यहाँ,
प्रसून होते जय-माल के लिए,
यहीं लगे हैं फल जो कि दे सके
प्रसाद सु-स्वादु विपन्न[1] जीव को।

(१०५)

न रंच आशा, फिर भी जिया दुखी
विपत्ति में संपति चाहता हुआ,
समुद्र में नाविक अट्टहास ले
हँसा, मिलेगा तट तो अवश्य ही।

(१०६)

यही प्रभा जीवन-मार्ग में सदा
प्रदीप-सी संतत कान्तिमान है,
प्रगाढ़ होता तम है यथा-यथा
तथा-तथा उग्र प्रकाश फैलता।

(१०७)

सदैव प्राणी रमता धरित्रि में
जहाँ-जहाँ भी वह जा सका कभी,
वहाँ-वहाँ श्वास-समान साथ में
अजस्र आशा बल दे सकी उसे।

---

[1] दुःखी।

(१०८)

विचार के बादल श्याम-रंग के
जभी लगे नीर-विपत्ति ढाहने,
क्षण-प्रभा[1]-सी निज ज्योति दे सकी
प्रसन्न आशा मृदु अट्टहास से।

(१०९)

सदैव आशा फलती नहीं यहाँ,
तथापि इच्छा रहती मनुष्य की;
प्रकाशती जीवन-संगिनी यही
विपत्ति में, संपति में समान ही।

(११०)

अवश्य होगी गत यामिनी कभी,
कभी उगेगा रवि पूर्व-शैल पै;
प्रभात-आशा-वश कंज-कोष में
प्रकाश पाता अलि[2] अंधकार में।

(१११)

पयोद के पश्चिम[3] रश्मियाँ छिपीं
प्रकाश आता जल बेधता हुआ
परेश ने ही इस कर्म-लोक में
सदैव आशा रखना सिखा दिया।

---

[1]बिजली। [2]भ्रमर। [3]पीछे।

(११२)

प्रभात के कोमल दूर्ब-तन्तु में
पुहे हुये मौक्तिक-वृन्द ओस के;
अनूप-आशा-कण हैं धरित्रि में
कि जाल लूता[१] अपना बिछा रही ।

(११३)

स्वकीय गाथा कहती यही, कि जो
वृथा, असारा, पर सौख्य-दायिनी
मनुष्य हो निर्भर सो गया जभी
उसे निराशा मिल स्वप्न में गयी ।

(११४)

सभी गुणों की जननी महा शुभा
विनम्रता ही अति पुष्ट नींव है,
समुच्च निर्माण विधेय हो जिसे
वही बने निम्न, न अन्य मार्ग है ।

(११५)

अवश्य ही उद्यत पाँव साधु का
पिपीलिका[२] को करता विचूर्ण है,
बिना बिचारे लघु जन्तु पीसना
विनम्रता का अति ही अभाव है ।

---

[१]मकड़ी । [२]चींटी ।

(११६)

सु-मान देना निज से समुच्च को,
असीस लेना निज से विनिम्न से,
मनुष्यता का ऋण है धरित्रि में
इसे चुकाता नर उत्तमर्ण[1] ही।

(११७)

विनम्रता ही जिस ज्ञानवान की
सुरम्य भूषा, वह वस्त्रवान है;
न एक, दो, तीन, न चार, पाँच ही,
सुवस्त्र पर्य्याप्त मनुष्य नग्न को।

(११८)

अदोष प्राणी लख प्राण दोष के
कि शुष्क होते, सहते न दृष्टि हैं,
स-शंक ज्यों ही अपराधिता[2] हुई
कि कंप आता उसमें अवश्य ही।

(११९)

प्रकाम-सारल्य-पवित्रता - मयी
अदोषिता दे सबको सु-योग्यता,
कि वे भगा दें कटुता, कलंक या
स-दोषिता को निज चित्त-भूमि से,

---

[1]साहूकार। [2]अपराध करने की प्रवृत्ति।

(१२०)

न भीति, शंका, न अनेक दर्प ही
हिला सके चित्त अदोष जीवका;
बना रहा सो अपराध-हीन ही
बड़े भले ही नर अन्य हों यहाँ ।

(१२१)

अदोष ने स्वर्ग लखा प्रसून में
समस्त-ब्रह्मांड-निविष्ट रेणु में;
अनन्तता हस्त-गता लखा पड़ी
बसी हुई शाश्वतता मुहूर्त में ।

(१२२)

दया नरों की परमा हितैषिणी
यही महा सत्तम शेष ज्ञान है,
अहो, दया-हीन मनुष्य विश्व में
पवित्र-चारित्र्य-प्रभाव-शून्य है ।

(१२३)

दया दिखावे यदि अन्य जीव तो
सखे ! बढ़ा दो तुम भी परत्र[१] को
चले इसी भाँति परंपरा तभी
सुकर्म, है संभव, स्वर्ग में मिलें ।

---

[१]दूसरा ।

(१२४)

मनुष्य की भिन्न मनोनुवृत्ति को,
मनुष्य की मूर्छित प्राण-वायु को,
मिला सके मार्दव-पूर्ण भाव ही
जिला सके आर्जव-पूर्ण वाक्य ही।

(१२५)

परेश, जो सर्व-गुणानुभाव है,
महा दया-धाम क्षमावतार है,
स-धर्म-प्राणी-तन-भस्म, भी अहो!
बना दया से सरसा सका वही।

(१२६)

जहाँ-जहाँ शोभित जीव-लोक हैं
वहाँ स्थली जीव-दया-प्रचार की;
परन्तु प्राणी दृग-हीन ही सदा
बटोरते कंटक, रत्न त्याग के।

(१२७)

कथा दया की सुनते मनुष्य तो
तुरन्त ही हो उठते सदाश्रयी[1],
स-प्रेम साश्चर्य्य विलोकते उसे
दया लखाती जिस धन्य जीव में।

---

[1]अच्छे आश्रय वाला।

(१२८)

परेश की पूर्ण दया पयोद हो,
सदा धरित्री पर वर्षती हुई,
मनुष्य को जीवन-दान दे रही
स-प्रेम-धारा झरती निरंतरा।

(१२९)

दया, क्षमा से परिपूर्ण, पूर्णता
प्रदान भू में करती मनुष्य को,
दया नृपों को अभिषिक्त न्याय[1] से
बना सकी ईश्वर-तुल्य विश्व में।

(१३०)

यथैव चित्रावलि पृष्ठ-भूमि की
विचित्रता से बनती स-चित्र है,
मनुष्य की शील-पवित्रता तथा
सलज्ज जो, तो अधिका पवित्र है।

(१३१)

उगी हुई कंटक के तले सहा
यथा लखाती अति ही मनोज्ञ है,
तथा कँटीले भ्रुव के तले लसी
सलज्ज की सुन्दर अक्षि[2] सोहती।

---

[1]अथवा, दया से अभिषिक्त न्याय। [2]आँख।

(१३२)

विलोक के सुन्दरि की सुरूपता
मनुष्य होते अति ही बिभोर हैं,
स-लज्ज नम्रा वरुणी-समाहिता
महान शोभा लखता रसज्ञ ही ।

(१३३)

प्रगाढ़ विश्वास, अदूष्य न्याय या
न सत्य, लज्जा-सम शंसनीय हैं,
स्वकीय निंदा सुन जो सलज्ज हो
वही सुधी सम्यक शीलवान है ।

(१३४)

यहाँ शतों में रणवीरता लखी,
लखी सहस्रों नर में सुविज्ञता,
गुणी लखे पूरुष लक्ष-कोटि भी,
उदार एकाधिक[१] दीखते नहीं।

(१३५)

'यही हमारा, वह आपका तथा
न है किसी का यह, बाँटलो इसे'—
प्रवृत्ति ऐसी नर तुच्छ की लखी,
उदार को विश्व कुटुम्ब-तुल्य है।

---

[१]एक-दो के अतिरिक्त ।

(१३६)

सुधी प्रदाता नर सेव्य है सदा,
अतीव चाहे वह तुच्छ क्यों न हो,
विहाय आये घन व्योम में सभी
मनुष्य पीते जल कूप का, सखे !

(१३७)

परेश देखे नर से गये नहीं,
न देव ही भू पर दृश्यमान हैं,
कुबेर की भी बस एक ही कथा,
सुप्राप्त सत्पूरुष ही कभी-कभी।

(१३८)

न तोष-पीयूष-समान विश्व में
प्रशान्ति प्राणीजन को मिली कभी
यहाँ वहाँ लुब्धक[1] के समान जो
मनुष्य भागा वह क्या कमा सका ।

(१३९)

न दुःख दे मानुष अन्य जीव को
न दुष्ट के संमुख नम्र हो कभी,
न त्याग के सज्जन-मार्ग विश्व में
कमा लिया द्रव्य अनल्प है वही[2] ।

---

[1]बहेलिया । [2]जो कुछ प्राप्त हो, वही बहुत है ।

(१४०)

वही सुधी भू पर पुण्यवान है,
वही तरा दुःख-पयोधि अंत में,
धरित्रि-सम्मोह-प्रसू[1] अजेय जो
महान आशा, उसको मिटा सके।

(१४१)

समीर खाते अहि, किन्तु हृष्ट हैं,
पलाश खाते गज, किन्तु पुष्ट हैं,
सभी इसी भाँति मनुष्य धैर्य्य से
प्रकृष्ट-तोषामृत-पान-लीन हैं।

(१४२)

स्व-प्राण के या धन के प्रदान से
निबाहता जो कि परोपकार है,
धरित्रि में सो नर धन्य; अन्यथा
कभी न देता धन साथ प्राण का।

(१४३)

पयोद, वारीश, दिनेश, भेश,[2] या
अरण्य, गो, सज्जन आदि विश्व में
परो पारार्थ रचे गये यहाँ
प्रवृत्ति अन्या इससे न श्रेष्ठ है।

---

[1]पृथ्वी पर मोह की जननी। [2]चंद्रमा।

(१४४)

परोपकारार्थ प्रसून फूलते,
परोपकारार्थ फली[1] प्ररोहते,
परोपकारार्थ नदी-गवादि हैं,
परोपकारार्थ शरीर साधु का ।

(१४५)

गजेन्द्र भी खा तृण दान दे रहे,
सुरेन्द्र भी धन्य परोपकार से
न पुण्य कोई पर-लाभ-सा यहाँ
परार्थ[2] तीर्थंकर भी पधारते।

[द्रुतविलंबित]

(१४६)

सकल विश्व विभाजित है द्विधा
विधि-प्रपंच भरा गुण-दोष से ।
मिल सकें यदि मंजु मराल तो
पय[3] लहें पय[4] त्याग करें सुधी ।

[वंशस्थ]

(१४७)

प्रवृत्त संध्या उस काल हो गई
निशेश-ज्योत्स्ना-मय अंतरिक्ष था ।
अशेष-नक्षत्र-प्रकाशमान हो
बना रहे थे नभ अर्क[5]-वृक्ष-सा ।

---

[1]वृक्ष । [2]दूसरे के लाभ के लिये । [3]दूध । [4]जल । [5]मदार ।

(१४८)

समस्त श्रोता-तति[1] तारकावली,
विशुद्ध स्वर्देव-धुनी[2]-समा गिरा,
विराजते थे द्विजराज राजते
धरित्रि में अंबर में न भेद था।

(१४९)

जिनेन्द्र बोले वह धर्म-वाक्य जो
कि सर्व-साधारण बोध-गम्य थे;
गृहस्थ के साधु-समाज के सभी
बता चले धर्म तथैव कर्म भी।

(१५०)

असंख्य प्राणी इस जीव-लोक में
परीषहों के उपसर्ग भोगते
अघों-भयों का, दुख-ग्लानि-क्लेश का
महान मिथ्यात्व अनन्य-हेतु है।

(१५१)

अतीव अच्छा जलना हुताश में,
तथैव हालाहल-पान श्रेष्ठ है,
परन्तु मिथ्यात्व-समेत धर्म में
मुहूर्त जीना मरना समान है।

---

[1]मंडली, श्रेणी। [2]आकाश-गंगा।

(१५२)

सरीसृपों से मरना वरिष्ठ है
न श्रेष्ठ मिथ्यात्व-कुभाग्य भोगना,
भुजंग देता दुख एक जन्म ही,
परन्तु मिथ्यात्व अनंत-काल लौं।

(१५३)

यहाँ तुला में अघ-ओघ डालिये,
वहाँ पला में रखिये असत्य को,
विलोकिये सर्षप[1]-से अघादि हैं
तथैव मिथ्यात्व सुमेरु[2]-तुल्य है।

(१५४)

निकालता जो भव से, भवाब्धि से.
तथा बनाता प्रभु तीन लोक का,
प्रभूत जो केवल-ज्ञान-युक्त है,
विशाल ऐसा जिन-धर्म विश्व में।

(१५५)

महान दुःखादि-विनाश-हेतु जो
तथा सदा कामद[3] जीव-लोक को
प्रकाम देता भव-संपदा सदा
प्रसिद्ध होगा जिन-धर्म लोक में।

---

[1]सरसों। [2]पर्वत। [3]कामना-पूर्ति करनेवाला।

(१५६)

अ-चौर्य्य, ईर्या, मन-गुप्ति, एषणा,
तथा अहिंसादिक तेरहों कला;
प्रशंसते जो मुनि वीत-राग[1] हैं
कहे गये वे अर[2] धर्म-चक्र के।

(१५७)

सदा धरो धर्म स्वकीय चित्त में,
सदैव चर्चा जिन-धर्म की करो,
तजो सभी संसृति धर्म के लिये
शरण्य लो, संस्थिर हो, स्व-धर्म में।

(१५८)

स्व-धर्म-सेवा विहिता क्षमा-युता,
क्षमा सदा क्रोध-प्रशान्ति-तत्परा;
प्रसिद्ध है मार्दव क्रोध-शत्रु ही,
यही जनों का अभिमान मारता।

(१५९)

स्व-धर्म का आर्जव एक अंग है,
अकार्य्य कौटिल्य निवारता वही,
'ऋतं च सत्यं' जिन-धर्म-रूप है,
अलोभ-शौचादिक दिव्य भाव हैं।

---

[1]विरागी। [2]आरे।

(१६०)

महा—त्रस-स्थावर-रूप देह की
सदा सुरक्षा करना विधेय है
प्रसिद्ध जो द्वादश भाँति का, सखे !
वही नरों को तप-जाप ध्येय है ।

(१६१)

सु-धर्म का लक्षण एक त्याग है,
सदैव आवश्यक ब्रह्मचर्य्य भी,
यही दशांगा जिन-धर्म-भावना
सभी नरों से परिभावनीय[1] है ।

(१६२)

हिरण्य, लक्ष्मी, बहु विश्व-संपदा,
अभीप्सिता इन्द्रिय-तृप्ति, आयु भी,
क्षण-प्रभा के समकक्ष[2] हैं सभी,
अतः करो निश्चल सौख्य-साधना ।

(१६३)

न जीव को मृत्यु परीषहादि से,
न रोग से या दुख से न ताप से,
अभीष्ट हो शाश्वत आयु-भोगना,
शरण्य है केवल एक धर्म ही ।

---

[1]चिंतनीय । [2]बराबर ।

(१६४)

सु-धर्म दुःखादिक-नाश के लिए
सुधी नरों से परिभावनीय है
समस्त संसार विषाद-मूल है,
प्रयत्न रत्न-त्रय-प्राप्ति का करो।

(१६५)

स्वजीव-कल्याण-विधान धर्म है,
स्व-कर्म-शुद्धचर्थ सु-धर्म ध्येय है
स्व-धर्म है केवल-ज्ञान-प्राप्ति ही;
न कर्म जीते बन ज्ञान-दग्ध हैं।

(१६६)

अहो, महाखेद ! मनुष्य देह को
न जानते निर्मित सप्त धातु से,
शरीर का वे न ममत्व त्यागते,
अधीत-आत्मा बनते न केवली।

(१६७)

स्व-कर्म के संवर[1] से मनुष्य को
अवाप्त होती बहु मोक्ष-संपदा,
अतः तपस्या अघ-हीनता-मयी
सदा दिलाती बहु कर्म-निर्जरा[2]।

---

[1]निरोध। [2]समाप्ति।

(१६८)

धरित्रि को दुःख-प्रपूर्ण जान के
प्रयत्न निःश्रेयस-प्राप्ति का करो,
मनुष्य की योनि अलभ्य मान के
करो सदा सम्यक धर्म-साधना ।

(१६९)

त्रिलोक-लक्ष्मी-सुख-प्राप्ति के लिए
विषाद-निष्कासन[1] के लिए, तथा,
जिनेन्द्र-द्वारा उपदिष्ट धर्म की
यथार्थ ही ईप्सित-लाभ-साधना ।

(१७०)

सुखी जनों की सुख-प्राप्ति के लिए,
दुखी नरों के दुख के विनाश को;
जिनेन्द्र-संपादित, धर्म-भावना
सुधी शिरोधारण में प्रवृत्त हों ।

(१७१)

वही सुधी हैं, वह पूज्य जीव हैं,
वही सुखी हैं, गुरु है, वरिष्ट[2] हैं,
विहाय जो कार्य्य समस्त विश्व के
प्रवृत्त होते जिन-धर्म-मार्ग में ।

---

[1]निकालना । [2]श्रेष्ठ ।

(१७२)

त्रिलोक को, या निज आयु को, तथा
सभी सुखों को, सब लोक-द्रव्य को,
सदैव नाशोन्मुख जान देह को
स्व-धर्म-सेवा करना यथार्थ है।

(१७३)

रथांग[1] है धर्म, यही निहार लो,
दशांग है धर्म, इसे विचार लो,
न भोग से प्रच्युत[2] अन्य वस्तु है,
न योग से उन्नत और मार्ग है।

(१७४)

परिग्रहों को सब भाँति त्यागना,
मनोवचःकाय-विशुद्धि साधना,
समुद्र को ग्यारह-अंग शास्त्र के
स-तर्क होके तरता मुनीश है।

(१७५)

परा - अहिंसा - मय-धर्म-साधना,
मुनीन्द्र हैं सम्यक पालते जिसे,
उन्हें मुदा द्वादश-भाँति योग से
अवाप्त होती बहु तुष्टि-पुष्टि है।

---

[1]चक्र। [2]निम्न।

(१७६)

सखे ! निराहार-व्रती मुनीन्द्र ही
विनाशता कर्म-गिरीन्द्र शीघ्र ही
कभी परित्याग रसादि का करे,
कभी करे कर्म-विनाश जाप से ।

(१७७)

विविक्त[१]-शय्यासन हो कभी रहे,
कभी धरे कंबल मंजु धैर्य्य का,
प्रयुक्त हो एकरसानुवृत्ति में
निदाघ-वर्षा-हिमकाल में सदा ।

(१७८)

अतः सुनो उत्तम धर्म-भावना,
मुनीन्द्र-द्वारा अति ही प्रशस्त जो,
सु-कर्म-लालायित पालते जिसे
सदैव निःश्रेयस-दान-शील जो ।

(१७९)

न क्रोध उत्पन्न करे कदापि जो
वही क्षमा उत्तम अंग धर्म का;
न मान को दे अभिवृद्धि स्वप्न में
प्रशस्त सो मार्दव धर्म-शील का ।

---

[१]एकान्त में सोना बैठना ।

(१८०)

सदैव सारल्य-समेत सोहता
कहा गया आर्जव नाम से वही;
मनोवचःकायिक सत्य-भावना
प्रसिद्ध है उत्तम रूप से वही।

(१८१)

अ-लोभ है सत्तम, शौच श्रेष्ठ है,
न नीर में ही शुचिता अशेष है,
सदा अहिंसा-मय जैन-धर्म का
कहा गया संयम मुख्य अंग है।

[द्रुतविलंबित]

(१८२)

विपुल धर्म कहे बहु मर्म[1] भी
सुभग कर्म बता सब को दिये;
सब समाज अतंद्र जमा रहा
सुन सुधा-मय वाक्य मुनीन्द्र के।

[वंशस्थ]

(१८३)

यथा-यथा यामिनि वर्द्धिता हुई,
तथा-तथा ही जिन-धर्म की कथा,
रहे सभी संस्थित पौर, किन्तु वे
शनैः शनैः निर्गम[2] सोचने लगे।

---

[1]धर्म का रहस्य। [2]बाहर जाना।

(१८४)

मनोज्ञ एकादश इन्दु की कला,
यथैव क्षीणा उपवास-कर्षिता,
प्रकाम फैली नभ में विलोकती
निमेष-हीना बन आस्य[1] देव का ।

(१८५)

मनुष्य साधारण तो स-जृम्भ[2] हो
विलोकते सालस थे इतस्ततः
कि कौन जाये, पहले उठे, तथा
न जान पायें जन अन्य भी उसे ।

(१८६)

जिनेन्द्र के किन्तु स-धर्म वाक्य की
अजस्र धारा बहती अबाध थी,
विलोक मध्या निशि की पदक्रमा[3]
चले सुधी वे गति शीघ्र-चारिणी ।

(१८७)

समस्त अर्हन्त, प्रणाम आपको,
समस्त जो सिद्ध उन्हें प्रणाम है,
समस्त आचार्य्य, समस्त साधु को
तथा उपाध्याय, तुम्हें प्रणाम है ।

---

[1]मुख । [2]जम्हाई लेकर । [3]गति ।

(१८८)

समस्त लोकोत्तर सिद्ध-साधु हैं,
समस्त तीर्थंकर सर्व-श्रेष्ठ हैं,
धरित्रि में जो बहु धर्म, वे सभी
न केवली-रूपित-धर्म-तुल्य हैं।

(१८९)

सदा अहिंसा रखना स्व-धर्म है
अदत्त लेना अपना न कर्म है,
मनुष्य जो उत्तम आत्म-निग्रही
उन्हें अविश्वास सदा अ-धर्म में।

(१९०)

न मार्ग पाथेय[1] बिना सुगम्य है,
सु-धर्म साथी पर-लोक का सदा,
न काल जाके फिरता कदापि है,
अधर्म का पादप पुष्प-हीन है।

(१९१)

सभी त्रस-स्थावर प्राणि विश्व के
अवध्य ही है न, अदंडनीय हैं,
विभीत होते सब दंड-नाम से;
कदापि प्राणी मरना न चाहते।

---

[1]संबल।

(१९२)

विपक्ष में हो सम-भाव पक्ष में,
तथा मृषा-भाषण में न प्रीति हो,
न सत्य-सा है तप और विश्व में
कहा गया है, ऋत ब्रह्म-रूप है।

(१९३)

मनुष्य अस्तेय[1]-विचार-युक्त जो
वही व्रती आदरणीय है सदा,
न पालता जो जन ब्रह्मचर्य्य है
उसे नहीं आस्पद[2] मोक्ष का मिला।

(१९४)

कदापि लाता मन में, न दृष्टि में
तपी स्त्रियों का मृदुहास्य, रूप भी;
विलास, लावण्य, कटाक्ष-वाण से
न विद्ध होता वह वीर धन्य है।

(१९५)

परिग्रही है वह जो पदार्थ पै,
ममत्व-मूर्छा[3] रखता सदैव है,
धरित्रि में संग्रहणीय एक ही
सु-वस्तु है निर्मम-भाव-कल्पना।

---

[1]चोरी न करना। [2]पद। [3]मोह।

(१९६)

असत्य, हिंसा, रति-मैथुनादि से,
परिग्रहों से, निशि-भोजनादि से,
विरक्ति होती जिसको वही सुधी
अनास्रवी[1] है, बहु-सिद्धि-पात्र है।

(१९७)

प्रमाद, आलस्य, स्व-मान क्रोध से
तथैव कुष्ठादिक-रोग से गृही
न सत्य-शिक्षा करता अवाप्त है
तथैव होता सुविनीत भी नहीं।

(१९८)

सु-पुण्य-द्वारा नर-योनि-प्राप्त हो,
चरित्र प्राणी अपने सम्हालता,
निपात होता यदि साधु-वृत्ति से
पुनश्च पाता वह भोग-योनि ही।

(१९९)

विहंग भारंड[2] प्रमाद-हीन हो
यथा बिताता निज आयु मोद में,
तथैव सोचें नर जागरूक हो,
शरीर है निर्बल, काल निर्दयी।

---

[1]कर्मास्रव-विहीन। [2]पक्षी-विशेष।

(२००)

न शीघ्र पाता नर आत्म-ज्ञान है,
अजस्त्र आवश्यक घोर साधना,
मनुष्य को संयम-मार्ग में सदा
प्रमाद से हीन विचार चाहिये।

(२०१)

धरित्रि में, जीवन[1] में, समीर में,
तथैव वैश्वानर-अंतरिक्ष में,
शरीर पाता बहु बार जीव है,
अतः प्रमादी बनना अयुक्त है।

(२०२)

यथा समुत्पन्न विहंग अंड से
विहंग से संभव अंड का हुआ
प्रसूत[2] तृष्णा इस भाँति मोह से
प्रभूत-तृष्णा-कृत मोह विश्व में।

(२०३)

सदैव दुःख-प्रद रागवान को
धरित्रि के इन्द्रिय-जन्य भोग हैं;
न वीतरागी नर को मिला कभी
कदापि आनंद मनोज-भाव[3] में।

---

[1]जल। [2]उत्पन्न। [3]रति।

(२०४)

स-मान-क्रोधादि—अनिगृहीत जो
स-लोभ-मायादि—प्रवर्द्धमान जो,
कषाय हैं नीर-समान सींचते,
पुनर्भवानोकह[1]-मूल सर्वदा।

(२०५)

प्रशान्ति से क्रोध विनाशनीय है,
विनम्रता से अभिमान जेय है,
अवश्य ही आर्जव मोह नाशता,
प्रलोभ को तुष्ट मनुष्य जीतता।

(२०६)

व्यतीत होती द्रुत आयु विश्व में
न काम-भोगादिक स्थैर्य्य-युक्त हैं,
मनुष्य जो शून्य-विकास हेय सो,
यथा पलाशी[2] फल-हीन त्याज्य है।

(२०७)

सुखी-दुखी प्राणि-समूह सर्वदा,
स्व-कर्म का ही फल भोगते यहाँ
न छोड़ती मृत्यु कदापि जीव को
मृगेन्द्र जैसे मृग को न त्यागता।

---

[1]वृक्ष। [2]पेड़।

(२०८)

विपत्ति में कच्छप स्वीय अंग को
सिकोड़ लेता जिस भाँति, हे सखे !
तथा सुधी भी विषयानुगामिनी
स्व-ज्ञान से इन्द्रिय-शक्ति खींचता ।

(२०९)

क्षमा तथा संयम में प्रसक्त[1] जो
तपस्विता-आर्जव-युक्त जो सुधी
परीषहों का क्रम ही विनाशता,
मुमुक्षु सो सद्-गति-प्राप्ति-योग्य है ।

[द्रुतविलंबित]

(२१०)

प्रभु-कृता जिन-धर्म-विवेचना
समिति में प्रसरी इस भाँति से;
जिस प्रकार सुगन्ध सरोज की
जल-तलोपरि छा रहती मुदा ।

[वंशस्थ]

(२११)

शनैः शनैः पौर उठे चले गये,
विसर्जिता धर्म-सभा हुई सभी,
विहाय एकादश-विप्र-मंडली
समीप कोई न रहा जिनेन्द्र के ।

---

[1]संलग्न ।

(२१२)

शनैः शनैः यामिनि भीगने लगी
प्रलंबिता ऐंदव[1]रश्मियाँ हुईं,
विहाय योगी-जन, और पौर या
न चौर भी हैं उस काल जागते ।

(२१३)

स्व-धर्म-संबोधित विप्र-मंडली
समीप बैठी प्रभु ज्ञात-पुत्र के
समाकुलेच्छा[2] उसमें अतीव थी
अवश्य ही धर्म-रहस्य-ज्ञान की ।

(२१४)

जिनेन्द्र बोले, "द्विज आज से तुम्हीं
प्रसिद्ध नेता मम धर्म के बनें;
हुये तुम्हीं दीक्षित सत्य-मार्ग में
अतः करो साधु-समाज-कल्पना ।

(२१५)

"प्रचार ऐसा कर दो स्व-धर्म का
रहें न हिंसा-मद-मान विश्व में,
अवश्य ही जीवन में तुम्हें, सखे !
महान निःश्रेयस-सिद्धि प्राप्त हो ।

---

[1]चंद्रमा की । [2]उत्कट अभिलाषा ।

(२१६)

"अहर्निशा संप्रति तीस वर्ष का
मदीय नेतृत्व अवाप्त है तुम्हें,
अतः करो धर्म-प्रचार नित्यशः
सु-कर्म-कल्याण मिले, सुखी रहो।

(२१७)

"प्रसिद्ध एकादश-संघ-राज[1] हो
सुपात्र हो केवल-ज्ञान-प्राप्ति के,
सभी करोगे जिन-धर्म-वृद्धि ही
समाप्त होगे 'गुण-शील' चैत्य में।"

(२१८)

तपी व्रती पंडित वेद-शास्त्र के,
सभी गुणी ब्राह्मण थे यथार्थ ही;
किसी-किसी ही श्रुति[2]-मंत्र में इन्हें
निगूढ़ शंका कुछ थी अवश्य ही।

(२१९)

जिनेन्द्र ने वेद-प्रसिद्ध मंत्र से
मिटा दिया संशय विप्र-वृन्द का
अतः हुआ भान उन्हें यथार्थतः
कि ज्ञान से निःसृत जैन-धर्म है।

---

[1]'गणराज'। [2]वेद। इन ग्यारह ब्राह्मणों को वेदार्थ में कुछ ऐसी शंकाएँ थीं जिनको भगवान ने वेद-मंत्रों के अर्थ द्वारा समझाकर समाधान कर दिया था।

(२२०)

हुआ सभी ब्राह्मण-वृन्द को तदा
प्रगाढ़ विश्वास जिनेन्द्र-वाक्य में;
हुये सभी धर्म-प्रचार-निश्चयी
नवीन आदर्श समक्ष आ गया।

(२२१)

शनैः शनैः बीत चली विभावरी
शनैः शनैः ब्रह्म-मुहूर्त आ गया;
उठे सभी विप्र, परन्तु आर्य्य ने
बिठा किया गौतम[1] इन्द्रभूति को

(२२२)

कहा, "अहो! भव्य सु-वंश हो तुम्हीं
बने हमारे जिन-धर्म-केतु के;
जहाँ-जहाँ हो मम कीर्ति-कल्पना
सखे! तुम्हारा यश हो वहाँ-वहाँ।

(२२३)

"सुविप्र! आये तुम जीतने मुझे,
अवश्य जीता मुझको स्व-भक्ति से,
रहा न संदेह तुम्हें स्व-धर्म में
रही न शंका मुझको स्व-कर्म में।

---

[1]इन्द्रभूति गौतम भगवान के प्रधान शिष्य हुये। इन्होंने ही जैन-धर्म का सांगोपांग निरूपण किया। भगवान के मौखिक भाषणों को लिपि-बद्ध करके यह प्रथम प्रचारक हुये।

(२२४)

"अवश्य ही मैं अब आपकी, सखे !
सहायता से जिन-धर्म-चक्र को;
घुमा-घुमा के बहु देश-काल में
सु-पात्र हूँगा सफला सुकीर्ति का ।"

(२२५)

परन्तु यों गौतम ने कहा, "प्रभो !
सुयोग्यता का मुझ में न लेश है,
महामहत्ता है यह आपकी कि जो
मुझे बनाते इतना महान हैं ।

(२२६)

"प्रभो ! यथा पारस-संग लौह से
सुवर्ण होता अति मूल्यवान है,
तथैव है संभव, आज मैं बनूँ
स-नाथ हे नाथ त्वदीय साथ में ।

(२२७)

"सुबुद्धि,[१] सत्कीर्ति, विभूति, भावना
मिली कभी जो जिस भाँति से जिसे,
प्रभाव सत्संगति का अवश्य सो,
न सिद्धि पाते जन अन्य यत्न से ।

---

[१]मति कीरति गति भूति भलाई इत्यादि । तुलसी ।

(२२८)

"प्रभो ! मुझे निश्चय सत्य-भाव से
विवेक सत्संगति के बिना नहीं,
सुप्राप्त सो भी न, विहाय[1] आपकी
महान दुष्प्राप्य अहेतुकी[2] कृपा ।

(२२९)

"पवित्र संसर्ग महानुभाव का
किसे न देता पद मूल्यवान है;
यथैव गंगा-गत नीर पूत है;
सरोज-पत्र-स्थित बुन्द रत्न-सा ।

(२३०)

"प्रभो ! कहा शीतल चंद्रमा गया,
तथैव है चंदन शैत्य-युक्त ही;
परन्तु, संसर्ग त्वदीय तो मुझे
स-शैत्य है चंदन-चंद्र से कहीं ।

(२३१)

"त्वदीय संसर्ग मदीय बुद्धि का
प्रभो ! हरे जाड्य[3], भरे सुविज्ञता,
तथैव आत्मोन्नति, पाप-हीनता,
प्रदान सत्कीर्ति करे अजस्र ही ।

---

[1]छोड़कर, अतिरिक्त । [2]निष्कारण । [3]जड़ता, मूर्खता ।

(२३२)

"प्रभो ! तुम्हारी कलकीर्ति विश्व में
कृशाश्वनी[1] के सम नाचती रहे;
त्रिलोक के प्रांगण-मध्य साधुता
निशेश-जोत्स्ना-सम राँचती रहे।

(२३३)

"प्रभो ! तुम्हारी प्रतिभा-पवित्रता
बहे सभा में सुर-सिंधुगा[2] समा,
प्रियव्रता-सी तव मोक्ष-अंगना
अजस्र ही सन्निकटस्थिता रहे।

(२३४)

"प्रकाशती है तव बुद्धि सर्वशः,
वितान को तान रही सु-कीर्ति के;
तथैव वैदग्ध्य[3] बढ़ा रही सदा,
चढ़ा रही श्वेत समुच्च व्योम में।

(२३५)

"विनाशती है अघ-ओघ, हे प्रभो !
प्रकाशती उन्नति है चरित्र में;
पता नहीं है यह आपकी कथा
कि उच्च-संसर्ग-प्रभाव-शालिमा।"

---

[1]पतले शरीर की घोड़ी। [2]गंगा नदी। [3]पांडित्य।

(२३६)

जिनेन्द्र की गौतम की महाशुभा
निगूढ़ वार्ता कुछ देर यों हुई
पुनश्च दोनों चुप हो गये, रुके
प्रभात-संस्तंभित-गांग - धार - से ।

(२३७)

दिनेश-आरुण्य दिगंत में लसा
विलोक मिथ्या-मत ऋक्ष से छिपे
उषा न आयी नभ में, धरित्रि में
प्रभाव छाया जिन-धर्म-चक्र का ।

(२३८)

कुशेशयों[1]-से, युग चक्रवाक-से,
शिलीमुखों[2]-से, नभ-संगमादि-से,
स-साधु साध्वी-जनमोद-युक्त थे,
प्रहृष्ट थे श्रावक-श्राविका सभी ।

(२३९)

मुहूर्त में धर्म-प्रभात हो गया,
मिटी कि हिंसा-घनघोर-यामिनी,
उलूक-से पाप जतूक[3]-से हुये
समस्त अस्तंगत अंतरिक्ष में ।

(२४०)

विवोधिता जीवन-सुप्रभात में
जगी विहंगावलि-सी सभी प्रजा;
चतुर्दिशा चारु निनाद यों उठा,
"जिनेन्द्र की जै, जय जैन-धर्म की ।"

[शार्दूल विक्रीडित]

(२४१)

आया शाश्वत वार जो प्रथित[1] है हिंसा-निशा नाश में,
सो वारेश उगा कि जो न अघ का है लेश भी छोड़ता,
प्राणी संसृति के समुत्थित चले, जो धर्म-पाथेय ले,
यात्रा जीवन की सभी कर रहे आ-बाल-वृद्धाबला[2] ।

(२४२)

ऐसा मार्ग प्रशस्त है, न जिसमें है भ्रान्ति-शंका कहीं,
छायी अंबर-मध्य जैन-मत की आनन्द-कादम्बिनी[3] ।
देती सौख्य वसन्त के पवन-सी सामायिकी-साधना;
काम-क्रोध-मदादि-कंटक बिना सन्मार्ग है धर्म का ।

(२४३)

भव्यो ! है यह मेदिनी शिविर-सी जाना पड़ेगा कभी;
आगे का पथ ज्ञात है न, इससे सद्बुद्धि आये न क्यों ?
ले लो साधन धर्म के, न तुमको व्यापे व्यथा अन्यथा;
है जैनेन्द्र-पदारविन्द-तरणी संसार-पाथोधि की ।

—समाप्त—

---

[1]प्रसिद्ध । [2]स्त्री । [3]मेघ-माला ।